!! श्री भगवद्गीता जी !!

अक्षय आनंद अमृत

अखिल भारत

BlueRose ONE .com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Akhil Bharat 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.



For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-81-6744-878-1

Cover Design: Deepak Katheria
Typesetting: Manisha Rawat

First Edition: September 2026

।। श्री गणेशाय नमः ।।



तत् सत्

मानव जीवन के लिए दिव्य मार्गदर्शक

प्रस्तावना-

श्रीमद्भगवद्गीता केवल एक धार्मिक ग्रंथ नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए जीवन जीने की कला का दिव्य शास्त्र है। यह वह अमृत है जो मनुष्य को दुःख, भय, मोह, चिंता और अज्ञान से मुक्त करके अक्षय आनन्द की ओर ले जाता है। लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र की रणभूमि में अर्जुन को जो दिव्य उपदेश दिया, वही आज सम्पूर्ण विश्व के लिए जीवन का सर्वोच्च मार्गदर्शन बन चुका है।

गीता का प्रत्येक श्लोक मनुष्य को यह सिखाता है कि जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है, आत्मा क्या है, परमात्मा कौन है, कर्म कैसे करना चाहिए तथा जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है। यही कारण है कि गीता को "अक्षय आनन्द अमृत" कहा जा सकता है, क्योंकि इसका ज्ञान कभी समाप्त नहीं होता और इसका आनन्द सदैव बढ़ता रहता है।

गीता का महत्व: जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में-

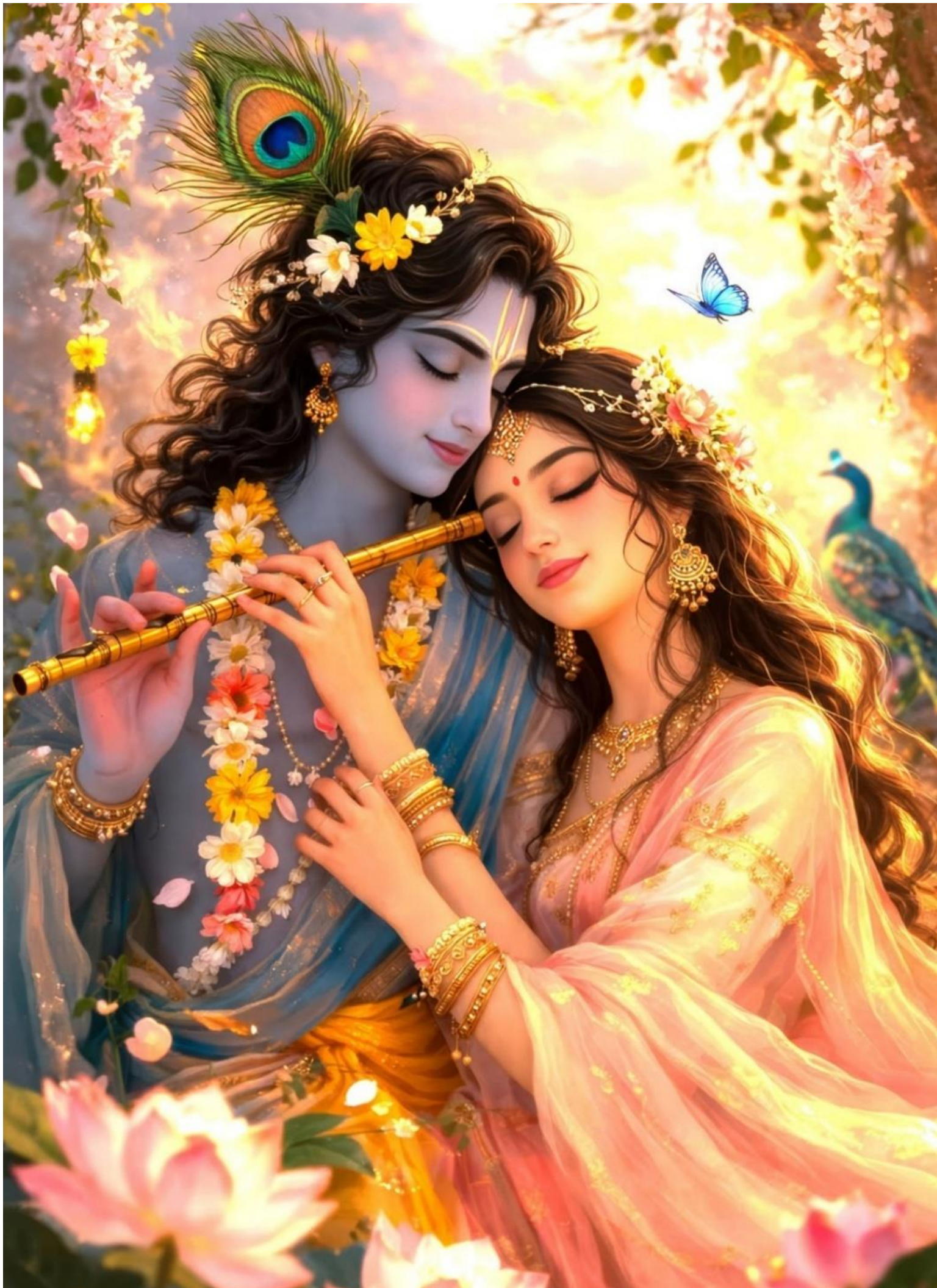
आज का मनुष्य बाहरी सुख-सुविधाओं से सम्पन्न होने के बावजूद भीतर से अशांत, चिंतित और भयभीत है। धन, पद, प्रतिष्ठा और भौतिक उपलब्धियों के बाद भी उसे स्थायी सुख नहीं मिल पाता। इसका मुख्य कारण यह है कि उसने अपने वास्तविक स्वरूप को भुला दिया है।

गीता हमें स्मरण कराती है कि हम केवल यह शरीर नहीं हैं, बल्कि परमात्मा के अंशरूप सनातन आत्मा हैं।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गीता 15.7)

जब मनुष्य इस सत्य को समझ लेता है, तब उसके जीवन में अद्भुत परिवर्तन आने लगता है। वह परिस्थितियों का दास नहीं रहता, बल्कि उनका स्वामी बन जाता है। सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय उसे विचलित नहीं कर पाते।

गीता का संदेश केवल संन्यासियों के लिए नहीं है। यह गृहस्थ, विद्यार्थी, व्यापारी, अधिकारी, किसान, वैज्ञानिक, नेता और साधक-सभी के लिए समान रूप से उपयोगी है। यह हमें कर्म करते हुए भी परम शांति प्राप्त करने का मार्ग दिखाती है।




विष्णु
ब्रह्मा
महादेव
ॐ
धर्म
मोक्ष
अर्थ
कर्म
सरल गीता
एक आध्यात्मिक रहस्यमय गन्थ
प्रकृति
पुरुष
समस्त संसार प्रभूमय है

समर्पित - 7861515

माधव









सनातन ज्ञान

सप्तचक्र जागरण • पंचकोषिय जागरण विधि • शांति संपर्क सूत्र

मैं कौन हूँ ? अपने आप को पहचानो ? समाधान अपने अन्दर ?

अखिल शर्मा
(जीवन गुरु)
माधव प्रचार संघ


ऋद्धि
सिद्धि
मंगल मूर्ति


ॐ
शिव परिवार
ॐ नमः शिवाय


सत्यम्·शिवम्·सुंदरम्
ॐ नमः शिवाय

अनंत कृपानिधान प्रकृति एवं परमपुरूष

गीता: अक्षय आनन्द का स्त्रोत

संसार के सभी सुख नश्वर हैं। धन नष्ट हो सकता है, शरीर वृद्ध हो सकता है, संबंध बदल सकते हैं और परिस्थितियाँ कभी भी परिवर्तित हो सकती हैं, परन्तु गीता का ज्ञान ऐसा खजाना है जो कभी समाप्त नहीं होता।

जब मनुष्य गीता का नियमित अध्ययन, मनन और चिंतन करता है, तब उसके भीतर आत्मविश्वास, धैर्य, विवेक और ईश्वर-विश्वास का विकास होता है। धीरे-धीरे उसका मन बाहरी वस्तुओं पर निर्भर रहना छोड़ देता है और उसे अपने भीतर ही आनन्द का स्रोत मिलने लगता है।

गीता हमें सिखाती है कि सच्चा आनन्द प्राप्ति में नहीं, बल्कि समर्पण में है; संग्रह में नहीं, बल्कि सेवा में है; अहंकार में नहीं, बल्कि भगवान के चरणों में शरणागति में है।

इसीलिए संतों ने गीता को अमृत कहा है। जो व्यक्ति इसके ज्ञान का पान करता है, उसका जीवन पवित्र, सार्थक और आनन्दमय बन जाता है।

क्या भगवान नारायण भी गीता के सिद्धांतों का पालन करते हैं?

सनातन दर्शन के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का वचन है और श्रीकृष्ण ही भगवान नारायण के पूर्णावतार हैं। इसलिए यह कहना अधिक उचित होगा कि भगवान नारायण स्वयं गीता से सहायता लेते हैं, बल्कि गीता स्वयं उनका ही दिव्य ज्ञान है।

आध्यात्मिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जिस ज्ञान को भगवान ने गीता के रूप में प्रकट किया है, उसी ज्ञान, धर्म, सत्य, करुणा, समत्व और लोककल्याण के सिद्धांतों के आधार पर वे सम्पूर्ण सृष्टि का पालन-पोषण करते हैं।

जब भगवान विष्णु जगत के पालनकर्ता के रूप में कार्य करते हैं, तब वे धर्म की स्थापना, सज्जनों की रक्षा और सृष्टि के संतुलन को बनाए रखते हैं।

गीता में भी भगवान कहते हैं-

“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम” (गीता 4.7)

जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेकर धर्म की पुनः स्थापना करता हूँ।

इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पालन का आधार वही सनातन ज्ञान है जो गीता में व्यक्त हुआ है। गीता भगवान का संविधान है और भगवान उसी दिव्य व्यवस्था के द्वारा अनन्त ब्रह्माण्डों का संचालन करते हैं।

गीता: सम्पूर्ण विश्व के लिए प्रकाश स्तम्भ

आज गीता का अध्ययन केवल भारत में ही नहीं, बल्कि विश्व के अनेक देशों में किया जा रहा है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, प्रबंधन विशेषज्ञ तथा आध्यात्मिक साधक सभी इसके ज्ञान से प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं।

गीता हमें सिखाती है-

- कर्त्तव्य का पालन कैसे करें।
- मन को कैसे नियंत्रित करें।
- तनाव और भय से कैसे मुक्त हों।
- ईश्वर से संबंध कैसे स्थापित करें।
- जीवन में सफलता और शांति का संतुलन कैसे बनाए रखें।
- मृत्यु के भय से ऊपर कैसे उठें।

यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन कुछ समय गीता के अध्ययन के लिए निकाले, तो उसका जीवन अधिक संतुलित, सकारात्मक और सार्थक बन सकता है।

उपसंहार-

श्रीमद्भगवद्गीता वास्तव में "अक्षय आनन्द अमृत" है। यह ऐसा दिव्य ज्ञान है जो मनुष्य को अज्ञान से ज्ञान की ओर, अशांति से शांति की ओर, भय से निर्भयता की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाता है।

गीता केवल पढ़ने की वस्तु नहीं, बल्कि जीने की कला है। जो व्यक्ति इसके उपदेशों को अपने जीवन में उतार लेता है, वह संसार में रहते हुए भी परम आनन्द का अनुभव करता है।

आइए, हम सभी श्रद्धापूर्वक गीता का अध्ययन करें, उसके संदेश को अपने जीवन में अपनाएँ और भगवान श्रीकृष्ण के बताए मार्ग पर चलकर अक्षय आनन्द, परम शांति और ईश्वर-प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हों।

"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।"

गीता का भली प्रकार अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि यह स्वयं भगवान पद्मनाभ (विष्णु) के मुखकमल से निकली हुई दिव्य वाणी है। यही मानव जीवन का अमृत है, यही अक्षय आनन्द का स्त्रोत है



आभार

मैं इस ग्रन्थ "भगवद्गीता- अक्षय आनन्द अमृत"को लिखने की प्रेरणा, शक्ति एवं अवसर प्रदान करने वाले परमपिता परमेश्वर के श्रीचरणों में कोटि-कोटि प्रणाम अर्पित करता हूँ। यह कृति मेरे व्यक्तिगत ज्ञान का परिणाम नहीं, बल्कि ईश्वर की अनंत कृपा, गुरुजनों के आशीर्वाद तथा महान संतों और महापुरुषों की दिव्य शिक्षाओं का प्रसाद है।

मैं श्रद्धा और भक्ति के साथ भगवान श्रीकृष्ण, श्रीराधारानी, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम, हनुमान अवतार परम् पूज्य बाबा श्री नीम करौली जी महाराज (जिन्होने वानर रूप में आकर मुझे साक्षात् दर्शन दिया), प्रथम पूज्य श्रीगणेश जी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं सदाशिव को नमन करता हूँ, जिनकी दिव्य प्रेरणा ने मेरे जीवन को आध्यात्मिक दिशा प्रदान की। मैं आदिशक्ति माँ भगवती तथा अपने कुलदेवी माँ विध्यवासिनी जी के श्रीचरणों में सादर प्रणाम करता हूँ, जिनकी कृपा सदैव मेरे जीवन का संरक्षण एवं मार्गदर्शन करती रही है।

मैं महर्षि कश्यप, भगवान गौतम बुद्ध, आदि शंकराचार्य तथा समस्त ऋषि-मुनियों और आचार्यों को श्रद्धापूर्वक नमन करता हूँ, जिनकी तपस्या, ज्ञान और आत्मबोध की परम्परा आज भी मानवता का मार्ग आलोकित कर रही है।

मैं परम पूज्य स्वामी रामसुखदास जी महाराज, श्रद्धेय जयदयाल गोयन्दका जी, वेदान्त केसरी स्वामी निरंजन जी, पूज्य आचार्य श्रीराम शर्मा जी, स्वामी विवेकानन्द जी, स्वामी अमृतानन्द जी तथा उन सभी संतों, गुरुओं और आध्यात्मिक लेखकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनकी पुस्तकों और विचारों ने मेरे अंतःकरण को शुद्ध किया, मेरे चिंतन को व्यापक बनाया और मुझे आत्मज्ञान की ओर अग्रसर किया।

मैं पवित्र प्रकृति, पंचमहाभूतों तथा समस्त सृष्टि में व्याप्त शुद्ध चैतन्य को प्रणाम करता हूँ। वृक्षों, नदियों, पर्वतों, पशु-पक्षियों और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से मुझे निरंतर ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव हुआ है। प्रकृति मेरी मौन गुरु रही है, जिसने मुझे समर्पण, धैर्य, संतुलन और प्रेम का पाठ पढ़ाया।

मैं अपने माता-पिता, पूर्वजों तथा सम्पूर्ण परिवार के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनके संस्कारों, स्नेह, त्याग और आशीर्वाद ने मेरे व्यक्तित्व का निर्माण किया। मैं अपनी धर्मपत्नी के प्रति विशेष आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके धैर्य, सहयोग, विश्वास और प्रेरणा ने जीवन की अनेक चुनौतियों में मेरा साथ दिया। मैं अपने समस्त परिवार, मित्रों, शुभचिंतकों और उन सभी व्यक्तियों का भी धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरे जीवन को समृद्ध बनाया।

अंततः मैं सम्पूर्ण सृष्टि, अपने गुरुओं, देवताओं, ऋषियों, परिवार तथा प्रत्येक ज्ञात-अज्ञात आत्मा के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। यदि इस ग्रंथ से किसी भी साधक के जीवन में शांति, प्रेम,

आत्मबोध अथवा ईश्वर के प्रति श्रद्धा का एक भी दीपक प्रज्वलित होता है, तो मैं इसे ईश्वर की कृपा और अपने समस्त पूज्यजनों के आशीर्वाद का फल मानूगाँ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

विनम्र श्रद्धा एवं
कृतज्ञता सहित,
अखिल शर्मा (अखिल भारत)
लेखक- भगवद्गीता- अक्षय आनन्द अमृत



विशेष

1. एकम् सत् विप्राः बहुधा वदन्ति। "ऋग्वेद 1.164.46"

सत स्वरूप ईश्वर एक ही है।

ऋषियों द्वारा ईश्वर को विविध नामों "भगवान, ग़ॉड, वाहेगुरू, राम, कृष्ण, शिव, निराकार-साकार ब्रहा्, शक्ति, दुर्गा, आदि" से पुकारा जाता है।

2. **वह ईश्वर ही जगतगुरू है-**

'वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम।'
'देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम।।'

वसुदेव के पुत्र, दिव्य स्वरूप, कंस और चाणूर का वध करने वाले, माता देवकी को परमानंद प्रदान करने वाले, उन जगतगुरु भगवान श्रीकृष्ण को मैं वंदन करता हूँ।

3. **वह ईश्वर कृपानिधान है-**

मूंक करोति वाचालं पंगुम लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।।

ऐसे भगवान श्रीकृष्ण की चरण वन्दना करता है जो साक्षात् परमानन्द की मूर्ति हैं जिनकी कृपा से एक गूंगा भी सुवक्ता बन जाता है तथा एक लंगड़ा भी पर्वतों "जीवन की समस्त बाधाओं"को पार कर सकता है।

4 ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।'

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।'

मंत्र का अर्थ-

यह मंत्र 'पूर्णत्व' (Wholeness/Completences) के सिद्धांत को समझाता है-

पूर्णमदः- वह (परमात्मा/ब्रह्म) पूर्ण है।

पूर्णमिदम्म- यह (संसार) भी पूर्ण है (क्योंकि यह उसी पूर्ण परमात्मा से बना है)।

पूर्णात्पूर्णमुदच्यते- पूर्ण से ही पूर्ण की उत्पत्ति होती है।

पूर्णस्य पूर्णमादाय- यदि उस पूर्ण (संसार) में से पूर्ण (परमात्मा) को निकाल लिया जाए (या घटा दिया जाए)।

पूर्णमेवावशिष्यते- तो केवल पूर्ण ही शेष बचता है।

भावार्थ- यह मंत्र हमें सिखाता है कि यह सृष्टि और परमात्मा दोनों ही पूर्ण हैं। परमात्मा से ही यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, इसलिए वह भी पूर्ण है। यदि हम पूर्ण में से पूर्ण को निकाल भी दें, तब भी जो शेष रहता है, वह भी पूर्ण ही है। यह सृष्टि और ईश्वर के अभिन्न होने का आध्यात्मिक सत्य है।

5. **ॐ सहना ववतु, सहनो भुनक्तुः**

सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

मंत्र का सरल अर्थ-

सह नाववतु - ईश्वर हम दोनों (गुरु और शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करे।

सह नौ भुनक्तु - हम दोनों का साथ-साथ पालन करे।

सह वीर्यं करवावहै - हम दोनों साथ मिलकर शक्ति (ज्ञान और सामर्थ्य) प्राप्त करें।

तेजस्वि नावधीतमस्तु - हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, ज्ञान से परिपूर्ण हो।

मा विद्विषावहै - हम कभी भी एक-दूसरे से द्वेष (नफरत) न करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः- हमारे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कष्ट दूर हों और सर्वत्र शांति हो।

मुख्य भाव- यह मंत्र न केवल शिक्षा प्राप्त करने के लिए, बल्कि आपसी सद्भाव, सहयोग और प्रेमपूर्ण वातावरण के निर्माण के लिए एक बहुत ही शक्तिशाली प्रार्थना है।

6. **त्वमेव माता च पिता त्वमेव**
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

7. **ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो**
देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

सरल हिंदी अर्थ:

- **ॐ:** ईश्वर का सर्वोच्च और मूल नाम (प्रणव)।
- **भूः:** भूलोक (पृथ्वी), प्राणस्वरूप।
- **भुवः:** अंतरिक्ष लोक, दुःखनाशक।
- **स्वः:** स्वर्ग लोक, सुखस्वरूप।
- **तत्:** उस।

- **सवितुः:** सूर्य देव (सृष्टिकर्ता, समस्त प्रकाश और जीवन के प्रदाता परमात्मा)।
- **वरेण्यं:** वरण करने योग्य, सबसे श्रेष्ठ और पूजनीय।
- **भर्गो:** तेज, पापों और अज्ञान का नाश करने वाला प्रकाश।
- **देवस्य:** दिव्य स्वरूप भगवान का।
- **धीमहि:** हम ध्यान करते हैं।
- **धियो:** हमारी बुद्धियों को, विवेक को।
- **यो:** जो।
- **नः:** हमारी।
- **प्रचोदयात्:** प्रेरित करें, सन्मार्ग पर चलाएं।

सम्पूर्ण भावार्थ:

"सृष्टि के रचयिता, प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी और दिव्य परमात्मा के उस उत्तम तेज का हम अपने हृदय में ध्यान करते हैं। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे।"

भगवान श्रीकृष्ण ने भगवत गीता मे इस मंत्र को छन्द के रूप में व्यक्त किया है कि वह छन्दों में गायत्री मंत्र है। यह मंत्र सनातन काल से 18 महामंत्रों में प्रथम मंत्र है जिसे गायत्री के रूप में जाना जाता है।



8. **हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे**
हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे

हरे कृष्ण महामंत्र एक अत्यन्त प्रभावशाली और दिव्य मंत्र है। इसे तारक ब्रह्म मंत्र कहा जाता है, जिसका अर्थ है वह मंत्र जो कलयुग के इस अंधकारमय समय में आत्मा का उद्धार करने में सक्षम है।

इस मंत्र के अर्थ को निम्न प्रकार से जाना जा सकता है- जो मुख्यतः तीन शब्दों से बना है-

- **हरे (Hare)-** यह भगवान की दिव्य शक्ति (श्रीमती राधारानी) को संबोधित करता है।
- **कृष्ण (Krishna)-** इसका अर्थ है जो सभी को आकर्षित करने वाले हैं (सर्व-आकर्षक)।
- **राम (Rama)-** इसका अर्थ है जो आनंद के स्रोत हैं (परम सुख के भंडार)।

सरल शब्दों में, यह भगवान से की गई एक प्रार्थना है कि वे भक्त को अपनी सेवा में लगाएँ और उन्हें भौतिक दुखों से मुक्ति दिलाएँ।



जीवन जीने को सभी प्राणी जी रहे हैं किन्तु ऐसे लोग बहुत ही विरले होते हैं जो जीवन में स्वयं से यह प्रश्न करते है-

1. मैं कौन हूँ?

क्या तुमने कभी स्वयं से यह प्रश्न किया कि तुम्हारा वास्तविक परिचय क्या है? क्या तुमने कभी यह जानने का प्रयास किया कि आत्मा (self) और अनात्मा (The Not-Self) क्या है? क्या मेरा जो शरीर दिख रहा है वही हूँ मैं या उससे भिन्न? क्या है मेरा वास्तविक परिचय? क्या तुमने कभी खुद को जाना है?

2. मुझे क्या प्राप्त करना है?

क्या तुमने कभी खुद से यह पूछा कि मुझे अपने जीवन में क्या करना है जिसके लिए मुझे यह जन्म मिला है? कहते है कि मनुष्य देह बहुत योनियों में भटकने के बाद प्राप्त होती है। तो वह क्या है जिसे प्राप्त करने के लिये यह मनुष्य देह प्राप्त हुई हैं?

3. मुझे कैसे प्राप्त करना है?

जब तुम यह जान जाओगे कि तुम्हें क्या प्राप्त करना है तो तुम्हारे लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वह तुम कैसे प्राप्त करोगे? उसे प्राप्त करने के क्या-क्या साधन हैं?

तुम्हारे जीवन से जुड़े इन तीनों प्रश्नों के उत्तर तुम्हें वेदों से मिल सकते हैं। किन्तु यर्थात में वेद इतने वृहद है कि एक सामान्य व्यक्ति के लिये अपने सम्पूर्ण जीवन में भी सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर उसके गूढार्थ को समझ पाना सम्भव नहीं हैं। कहते है कि वेदों का सार उपनिषदों में हैं किन्तु उपनिषद भी संख्या में 100 से अधिक हैं इस कारण एक मनुष्य का अपने सम्पूर्ण जीवन में समस्त उपनिषदों का अध्ययन कर पाना सम्भव नहीं है। यही नहीं वेदों और उपनिषदों को यथार्थ रूप में समझ पाना अधिकांश लोगों के लिये सम्भव भी नहीं हैं इसीलिये ईश्वर ने हम पर दया करके वेदों का सार भगवत गीता के रूप में प्रतिपादित किया है ताकि वेदों का ज्ञान समस्त जनमानस तक पहुँच सके, जिसने सम्पूर्ण गीता का अध्ययन कर लिया है उसके लिये यह मानना चाहिये कि उसने सम्पूर्ण वेद व उपनिषद पढ़ लिये हैं। गीता के विषय में इसी कारण कहा गया है-

सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा गोपालनंदनः।
पार्थो वत्सः सुधीर भोक्ता दुग्धम् गीतामृतम् महत्।।

अर्थात् सारे उपनिषद गायें हैं। उन शास्त्ररूपी गायों के स्तनों से ज्ञानरूपी दूध निकला है। वही गीता है और इस गीतारूपी दूध को दुहनेवाला ग्वाले का पुत्र कृष्ण है। अर्जुन बछड़ा है जो कृष्णरूपी ग्वाले की मदद से गीतामृतरूपी दूध पी रहा है।

हमारा भी यह सौभाग्य है कि भगवान की असीम कृपा से हम सबको भी इस गीतामृत का पान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हैं। भगवत गीता में हमें हमारे तीनों प्रश्नों के उत्तर भी दिये जाते हैं जो सभी मनुष्यों के लिये जानना अति महत्वपूर्ण है।



अनुक्रमणिका

अध्याय-1 1
अध्याय-2 12
अध्याय-3 33
अध्याय-4 44
अध्याय-5 58
अध्याय-6 67
अध्याय-7 79
अध्याय-8 85
अध्याय-9 96
अध्याय-10 104
अध्याय-11 115
अध्याय-12 128
अध्याय-13 132
अध्याय-14 142
अध्याय-15 150
अध्याय-16 157
अध्याय-17 164
अध्याय-18 172
विनम्र निवेदन 191
श्री भगवद्गीता आरती 194

अध्याय-1



भगवत गीता में भगवान श्रीकृष्ण का उपदेश-ज्ञान अध्याय-2 के 11वें श्लोक से प्रारम्भ होता है। इसलिए प्रथम अध्याय में कुछ श्लोकों को छोड़कर उनकी सरल व्याख्या न करके उन श्लोक का अनुवाद ही किया गया है। गीता श्लोकों की सरल व्याख्या का क्रम अध्याय-2 के 11वें श्लोक से प्रारम्भ होता है किन्तु अध्ययन की दृष्टि से प्रथम अध्याय का अध्ययन भी महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि श्री भगवत गीता जी की आधारशिला प्रथम अध्याय में ही रखी गयी है।

श्लोक-1

धृतराष्ट्र बोले- हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित, युद्ध की इच्छावाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

सरल व्याख्या- महर्षि वेदव्यास जी ने धृतराष्ट्र के कहने पर उनके सारथी संजय को दिव्यदृष्टि प्रदान की जिससे वह युद्ध क्षेत्र में गए बगैर युद्धभूमि में हो रहे घटनाक्रम को देख व सुन सकते थे। यहाँ कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा जा रहा है क्योकि यहाँ अनेक महापुरुषों व देवताओं ने तप किया था और ऐसी मान्यता रही है कि यहाँ मरने वालो को सद्गति प्राप्त होती है, जिस कारण भी इसे धर्मक्षेत्र कहा गया। यहाँ राजा कुरु ने भी घोर तप किया था इसलिए इसे कुरुक्षेत्र पुकारा जाता है।

यहाँ धृतराष्ट्र द्वारा संजय से 'मेरे पुत्र' करके पूछा जा रहा जबकि पांडवो के लिए 'मेरेपन' का कोई भाव नहीं है। संसार में समस्त संघर्ष मेरे और तेरे भाव के कारण ही है, जबकि ईश्वर द्वारा संसार में कोई भेदभाव नहीं किया गया है। सभी को ईश्वर द्वारा सामान रूप से पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश प्रदान की गयी है। मनुष्य नाहक ही मोहित होकर इनके बटवारे कर लेता है। ये तेरा देश, ये मेरा देश, ये तेरी जमीन, ये मेरी जमीन। मनुष्यों ने न केवल पृथ्वी का ही बंटवारा किया है अपितु जल व आकाश का भी बंटवारा कर डाला है। यही भेदभाव ही संघर्ष को जन्म देता है जिसका उदाहरण अनेक महायुद्ध हैं। यहाँ धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों के प्रति मोह था, प्रेम नहीं। यहाँ मोह और प्रेम के भेद को समझना आवश्यक है। **प्रेम तो सबके प्रति सामान रूप से होता है, जबकि मोह कुछ व्यक्तियों, वस्तुओं या पदार्थों के प्रति होता है।** इसलिए भारतीय सनातन के अन्तर्गत महा उपनिषद और हितोपनिषद में **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** की भावना को व्यक्त किया गया है जिसका तात्पर्य है **''सम्पूर्ण संसार एक ही परिवार है''** । श्री कपिलमुनि जी ने संख्य दर्शन में बताया है-

"सारे संसार को मेरा स्वरूप समझ कर समदृष्टि से सबसे प्रेम करो यदि मेरी सबसे बड़ी भक्ति है।"

श्लोक-2

संजय ने धृतराष्ट्र को उत्तर दिया- उस समय राजा दुर्योधन ने पांडव सेना की व्यूह रचना को देखकर द्रोणाचार्य के पास जाकर यह कहा- हे आचार्य!

श्लोक-3

आप अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपद के पुत्र के द्वारा व्यूह रचना युक्त पाण्डु के पुत्रों की यह महान सेना देखिये।

श्लोक-4 से 6

इस सेना में इस युद्ध में लड़ने वाले भीम और अर्जुन के समान महाधनुर्धारी व वीर हैं- सात्यिकी, विराट, महारथी ध्रुपदराज, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यो में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान उत्तमौजा, सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदी के पांचो पुत्र- ये सभी पांडवों की सेना में शामिल महारथी हैं।

सरल व्याख्या- महारथी प्राचीन काल में उस योद्धा को कहा जाता था, जो युद्ध में अकेले ही दस हजार योद्धाओं से लड़ने की क्षमता रखता था।

श्लोक-7

आगे दुर्योधन गुरु द्रोणचर्या से कहता है- हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! आप हमारी सेना के भी प्रधान नायकों को भी जान लीजिये।

श्लोक-8 से 9

हमारी सेना में आप, भीष्मपितामह, कर्ण, युद्ध में जीतने वाले कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ हैं और इसके आलावा और भी बहुत से शूरवीर मेरे लिए अपना जीवन त्यागने के लिए तैयार है और ये सभी विविध प्रकार के अस्त्र शास्त्रों से सुसज्जित व युद्ध में निपुण है।

श्लोक-10

पितामह भीष्म के द्वारा रक्षित हमारी यह सेना पर्याप्त है किन्तु इन पांडवो की सेना भीम के द्वारा रक्षित होते हुए भी इस युद्ध के लिए अपर्याप्त है।

सरल व्याख्या- यहाँ दुर्योधन ईर्ष्या के वशीभूत होकर अपने अहंकारपूर्ण भाव व्यक्त कर रहा है और अपनी सेना को पांडवों की सेना की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ बता रहा है। दूसरे के उत्कर्ष को देखकर जो जलन उत्पन्न होती है, वही ईर्ष्या का भाव है जिसे असुईया या मत्सर भी कहा जाता है। ईर्ष्या तो अग्नि के समान होती है जो दूसरे अर्थात् जिसके प्रति उत्पन्न हुई है, उसे जलाये चाहे न जलाये परंतु जिसके अंदर उत्पन्न हुई है, वो तो राख हो ही जाता है। इसी ईर्ष्या के दुष्प्रभाव की एक पौराणिक कथा प्रस्तुत है-

एक बार की बात है- एक गरीब ब्राह्मण किसी प्रकार भिक्षा मांगकर अपना व अपनी पत्नी का कठिनाई से पालन पोषण कर रहा था। उसने ऐसी स्थिति देखकर यह तय किया कि वह भोलेश्वर महादेव का कठिन तप करके उनसे धनी होने का वर मांगेगा ताकि उसकी निर्धनता सदैव के लिए समाप्त हो जाए। उसने कई दिनों तक कठिन तप करके महादेव जी को प्रसन्न कर लिया और महादेव जी ने प्रसन्न होकर उसे वर में एक घण्टा देकर कहा कि तुम आवश्यकता पड़ने पर यह घण्टा बजाकर जो भी चीज मांगोगे वह तुम्हें तुरंत प्राप्त हो जायेगी। वह ब्राह्मण वर में ऐसा घण्टा पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। तभी महादेव जी बोले- 'कि बेटा तुम जो भी वर इस घण्टे को बजाकर इससे जो मांगोगे वह चीज तुम्हें प्राप्त होगी एक गुना और तुम्हारे पड़ोसी को प्राप्त होगी दुगुना।' इस प्रकार तुम्हारे मांगे वर का दुगुना पड़ोसी को प्राप्त होगा। उस ब्राह्मण का अपने पड़ोस से बड़ा द्वेष था, जिससे वह ऐसा वर पाकर भी मन ही मन बहुत खिन्न हुआ और कहने लगा कि कठिन तप मैंने किया, भूख प्यासा मैं रहा और मेरे तप का दुगुना प्रतिफल पड़ोसी को प्राप्त हो, मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूंगा। वह उस घण्टे को अपने घर तो ले आया परंतु उसने उससे कोई वर नहीं मांगा और घण्टे को उठाकर घर के एक कोने में रख दिया तथा स्वयं भिक्षा मांगने बाहर चला गया। उसकी पत्नी ने जब घर की सफाई की तो उसके हाथ से घण्टा बज उठा और घण्टे से आवाज आई- हे देवी! तुम्हें क्या चाहिये? तुम जो भी चीज चाहो वह मुझसे मांग सकती हो किंतु तुम्हारी इच्छित वस्तु दुगने रूप में तुम्हारे पड़ोसी को प्राप्त हो जायेगी। उस ब्राह्मणी ने कहा- यह तो और भी अच्छी बात है कि मेरे साथ मेरे पड़ोस के भी कष्ट दूर हो जायेंगे। उस ब्राह्मणी ने जितना धन, मकान, आदि घण्टेश्वर से मांगे उसके दुगुने पड़ोस को भी प्राप्त हो गये। ब्राह्मण जब भिक्षा मांगकर आया तो वह अपनी कुटिया के स्थान पर विशाल भवन देखता है और अपने पड़ोस में महल को देखता है। वह भागता हुआ ब्राह्मणी के पास जाकर चिल्लाकर कहता है- 'ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ख स्त्री तूने उस घण्टे से वर मांग डाला।' वह ब्राह्मणी बोली 'हे नाथ! देखो घण्टेश्वर की कृपा से हमारे कष्ट दूर हो गये अब हमे कोई कष्ट नहीं रहेगा।' वह ब्राह्मण बोला- 'मैंने ही तो इस घण्टे को कठिन तप द्वारा महादेव जी से प्राप्त किया है किंतु मेरे तप का फल अकारण ही मेरे पड़ोसियों को प्राप्त न हो जाये इसलिये मैंने इस घण्टे का प्रयोग नहीं किया और तूने इस घण्टे का प्रयोग करके सारे पड़ोस को धनवान बना दिया।' उस ब्राह्मण ने क्रोध में घण्टा हाथ से पकड़कर बजाया और घण्टेश्वर जी से कहा- 'हे घण्टेश्वर जी! 'मेरी एक टांग टूट जाए।' उसी क्षण उसकी टूटी एक टांग, पड़ोसी की टूट गयी दोनों। उसने दूसरा वर मांगा- 'मेरे घर के आगे एक गड्ढा खुद जाये। उसके घर के आगे गड्ढा खुद गया और पड़ोसी के घर के आगे खाई बन गयी।' उसने कहा- 'मेरी एक आँख फूट जाये।' पड़ोसी की दोनों आंखे फूट गई। उसने कहा- 'मेरा एक हाथ टूट जाये' पड़ोसी के दोनों हाथ टूट गये।

ऐसी ही ईर्ष्या दुर्योधन को भी पांडवों के प्रति हुई थी जिसके कारण उसके साथ समस्त कौरवों का समूल नाश हो गया, साथ ही पांडवों को भी काफी क्षति उठानी पड़ी। ऐसा बुरा होता है- असुईया भाव, जो दूसरे को क्षति पहुंचाने के साथ स्वयं को भी क्षति पहुंचाता है। कितनी सुंदर बात है- जलो मगर दीपक की तरह। जैसे दीपक स्वयं प्रकाशित होता है तथा ओंरो को भी प्रकाशित करता है। साथ उस दीपक से कितने दीपक प्रकाश प्राप्त कर लेते है। काश की ऐसे दीपक समान मति होती है दुर्योधन की।

यहाँ दुर्योधन को इस बात का अभिमान है कि उसके पास पांडवो की अपेक्षा अधिक विशाल और अधिक शक्तिशाली सेना है। कौरवो के पक्ष में 11 अक्षौहिणी सेना है जबकि पांडवो के पक्ष में 7 अक्षौहिणी सेना है।

अक्षौहिणी सेना का अर्थ

भारतीय पौराणिक ग्रंथों, विशेषकर महाभारत के संदर्भ में अक्षौहिणी सेना का अर्थ एक बहुत बड़ी सैन्य इकाई से है।

प्राचीन भारतीय सैन्य प्रणाली में सेना की सबसे बड़ी और पूर्ण इकाई को अक्षौहिणी कहा जाता था। यह केवल सैनिकों का समूह नहीं, बल्कि इसमें पैदल सेना, रथ, घुड़सवार और हाथी सवारों का एक निश्चित गणितीय अनुपात होता था।

एक अक्षौहिणी सेना की संरचना

महाभारत के आदिपर्व के अनुसार, एक अक्षौहिणी सेना में निम्नलिखित संख्या में अंग शामिल होते थे-

सैन्य अंग		संख्या
पैदल सैनिक	:	1,09,350
घुड़सवार (अश्वारोही)	:	65,610
रथ	:	21,870
हाथी	:	21,870

कुल संख्याः इन सभी को जोड़ने पर एक अक्षौहिणी में कुल 2,18,700 सैनिक (योद्धा, सारथी और हाथी सवार मिलाकर) होते थे।

श्लोक-11

दुर्योधन आगे अपने गुरुदेव से कहता है- अब आप सब लोग सभी मोर्चों पर अपने-अपने विभाग के अनुसार स्थित रहते हुए पितामह भीष्म की हर प्रकार से रक्षा कीजिये।

सरल व्याख्या- दुर्योधन को यह भली-भाँति पता है कि जब तक भीष्म पितामह कौरव सेना के साथ खड़े है तब तक उनकी सेना को कोई भी परास्त नहीं कर सकता, किन्तु भीष्म शिखंडी पर प्रहार नहीं करेंगे, बल्कि उसके सामने आते ही अपने शस्त्रों का त्याग कर देंगे। अतः यहाँ दुर्योधन पितामह भीष्म के प्राणों का महत्व जानते हुए सभी प्रमुख महारथियों से भीष्म पितामह का भली प्रकार रक्षण करने को कह रहा है।

श्लोक-12

तब कौरवों में वृद्ध प्रतापशाली भीष्म पितामह ने उस दुर्योधन के हृदय में आनंद उत्पन्न करते हुए ऊंचे स्वर में सिंह की गर्जना के सामान शंख बजाया।

श्लोक-13

इसके पश्चात् शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और रणसिंघे एक साथ बज उठे। वह ध्वनि बड़ी ही भयंकर हुई थी।

श्लोक-14

इसके पश्चात् श्वेत रंग के अश्वों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए भगवान श्रीकृष्ण तथा अर्जुन ने भी दिव्य शंख बजाये।

श्लोक-15

श्रीकृष्ण ने पांचजन्य नाम का शंख, अर्जुन ने देवदत्त नाम का शंख और भयानक कर्म वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नाम का महाशंख बजाया।

सरल व्याख्या- भगवान श्रीकृष्ण के पावन शंख पाञ्चजन्य की कथा अत्यंत रोचक है और यह शंख केवल एक वाद्य यंत्र नहीं, बल्कि उनके धर्म-युद्ध और संरक्षण का प्रतीक है।



पाञ्चजन्य शंख की उत्पत्ति: गुरु संदीपनी का आश्रम

पौराणिक कथाओं के अनुसार, जब भगवान कृष्ण और बलराम अपनी शिक्षा पूर्ण करने के बाद अपने गुरु संदीपनी मुनि को गुरुदक्षिणा देने के लिए तत्पर हुए, तो गुरु माता ने उनसे अपने उस पुत्र को वापस लाने का अनुरोध किया जो वर्षों पहले प्रभास क्षेत्र के समुद्र में डूब गया था।

श्रीकृष्ण और बलराम समुद्र तट पर पहुँचे। वहाँ पञ्चजन नामक एक भयानक असुर रहता था जो शंख के रूप में समुद्र के भीतर निवास करता था। कहा जाता है कि उसी असुर ने गुरु संदीपनी के पुत्र का अपहरण किया था।

शंख के रूप में असुर का वध

1. **असुर का अंत-** भगवान श्रीकृष्ण समुद्र के भीतर गए और पञ्चजन असुर का वध किया।
2. **गुरु पुत्र की प्राप्ति-** असुर को मारने के बाद, श्रीकृष्ण ने यमलोक जाकर अपने गुरु के पुत्र को मुक्त कराया और उसे गुरु संदीपनी को वापस सौंप दिया।
3. **शंख की प्राप्ति**- पञ्चजन असुर का शरीर शंख के रूप में परिवर्तित हो गया था। श्रीकृष्ण ने उस शंख को ग्रहण किया। चूँकि यह पञ्चजन नामक असुर के शरीर से प्राप्त हुआ था, इसीलिए इसे पाञ्चजन्य के नाम से जाना गया।

पाञ्चजन्य शंख का महत्व

विजय का उद्घोष- महाभारत के युद्ध में, कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जब श्रीकृष्ण इस शंख को बजाते थे, तो उसकी ध्वनि से शत्रुओं के हृदय कांप जाते थे और पांडव सेना में नव-ऊर्जा का संचार होता था।

सात्विक विजय का प्रतीक- पाञ्चजन्य शंख की ध्वनि को ऊँ की नाद का प्रतीक माना जाता है। यह अधर्म पर धर्म की विजय और ज्ञान की उद्घोषणा करता है।

ब्रह्मांडीय शक्ति- आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पाञ्चजन्य शंख को आकाश तत्व का प्रतिनिधित्व करने वाला माना जाता है। इसकी ध्वनि नकारात्मक शक्तियों का विनाश और सकारात्मक ऊर्जा का प्रसार करती है।

भगवान श्रीकृष्ण के चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म (कमल) सुशोभित हैं। इसमें शंख (पाञ्चजन्य) शांति, सृजन और दिव्य नाद का प्रतिनिधित्व करता है, जो भक्त को संसार के मोह-माया से ऊपर उठकर ईश्वरीय मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है।

देवदत्त शंख का महत्व

महाभारत में अर्जुन के शंख देवदत्त का अत्यंत गौरवपूर्ण और प्रतीकात्मक महत्व है। यह केवल एक शंख नहीं, बल्कि अर्जुन की वीरता, दिव्य शक्ति और श्रीकृष्ण के साथ उनके अटूट संबंध का प्रतीक है।

1. दिव्य उत्पत्ति-

पौराणिक कथाओं के अनुसार, अर्जुन को यह शंख देवराज इंद्र से प्राप्त हुआ था, जब अर्जुन ने खाण्डव-वन दहन के दौरान इन्द्र को प्रसन्न किया था और दिव्य अस्त्र प्राप्त किए थे, तब इन्द्र ने उन्हें यह तेजस्वी शंख उपहार स्वरूप प्रदान किया था। देवदत्त का शाब्दिक अर्थ ही होता है- देवताओं द्वारा दिया गया।

2. धर्म और विजय का प्रतीक-

विजय का सूचक- देवदत्त की ध्वनि को विजय का अग्रदूत माना जाता था। अर्जुन के हाथों में यह शंख यह दर्शाता था कि जहाँ धर्म है और जहाँ स्वयं नारायण (श्रीकृष्ण) सारथी के रूप में उपस्थित हैं, वहां विजय निश्चित है।

दैवीय सुरक्षा- यह शंख अर्जुन की दैवीय शक्ति का प्रतीक था, जो उन्हें देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त होने की याद दिलाता था।

3. आध्यात्मिक अर्थ-

आध्यात्मिक दृष्टि से, अर्जुन के द्वारा देवदत्त बजाना इस बात का संकेत है कि मनुष्य जब अपने जीवन के युद्ध (धर्म-अधर्म की लड़ाई) में उतरता है, तो उसे ईश्वर (देवताओं) की शक्ति और मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। यह शंख उस सात्विक चेतना का प्रतीक है जो अर्जुन के भीतर विद्यमान थी।

पौण्ड्र शंख का महत्व

महाभारत के युद्ध में शंखों का अपना विशेष स्थान है, और भीमसेन द्वारा प्रयुक्त शंख पौण्ड्र अपनी शक्ति और ध्वनि के लिए प्रसिद्ध था।

1. भीम की अद्भुत शक्ति का प्रतीक-

पौण्ड्र का अर्थ है विशाल या महाकाय, जिस प्रकार भीमसेन का व्यक्तित्व और बल सामान्य मनुष्यों से कहीं अधिक था, उसी प्रकार उनका शंख भी अत्यंत विशाल और भयानक ध्वनि वाला था। इस शंख की ध्वनि से शत्रुओं के हृदय दहल जाते थे।

भयानक कर्म करने वाले और अग्नि के समान जठराग्नि वाले भीम ने अपने पौण्ड्र नामक महाशंख को बजाया। यह उनकी शक्ति का परिचय था कि उन्होंने न केवल युद्ध के लिए अपनी तत्परता दिखाई, बल्कि अपनी दहाड़ जैसी ध्वनि से पूरे युद्धक्षेत्र को कम्पित कर दिया।

2. मनोवैज्ञानिक प्रभाव-

कौरव पक्ष के लिए भीम की उपस्थिति ही एक बड़ा भय थी, जब भीम अपना पौण्ड्र शंख बजाते थे, तो वह कौरवों को उनके द्वारा किए गए अन्याय की याद दिलाता था। इस शंख की गूंज पांडव सेना के उत्साह को सातवें आसमान पर पहुँचा देती थी।

3. पौराणिक संदर्भ और नाम-

पौण्ड्र नाम की उत्पत्ति अक्सर पौण्ड्र देश (जो प्राचीन भारत में वर्तमान बंगाल और बिहार के क्षेत्रों के आसपास स्थित था) के राजाओं या वहाँ की विशेष शिल्प कला से जोड़कर देखी जाती है। यह एक ऐसी कलाकृति थी जो न केवल दिखने में भव्य थी, बल्कि उसकी ध्वनि में एक अद्वितीय गंभीरता और ओज

था।भीम का पौण्ड्र शंख उनके भीतर के उस बल का प्रतीक है जो अधर्म के विनाश के लिए अनिवार्य था।

श्लोक-16

माता कुंती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय नामक शंख, नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाये।

1. अनन्तविजय

प्रतीक- यह धर्मराज युधिष्ठिर का शंख था। अनन्तविजय का शाब्दिक अर्थ है- वह जो अनंत काल तक विजय दिलाए।

महत्व- यह शंख धर्म और सत्य की विजय का प्रतीक है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, यह विजय उस सत्य की है जो कभी समाप्त नहीं होती। यह शंख इस बात का संकेत है कि जहाँ धर्म का मार्ग अपनाया जाता है, वहाँ विजय केवल क्षणिक नहीं, बल्कि शाश्वत (अनंत) होती है।

2. सुघोष

प्रतीक- यह नकुल का शंख था। सुघोष का अर्थ है मधुर और सुन्दर ध्वनि।

महत्व- नकुल अपनी सुंदरता, बुद्धिमानी और अनुशासन के लिए जाने जाते थे। उनका शंख सुघोष उनकी अनुशासित जीवनशैली और सात्विक स्वभाव को दर्शाता है। युद्ध के शोर-शराबे के बीच यह शंख एक ऐसी ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता था जो सामंजस्य और व्यवस्थित कार्यप्रणाली का प्रतीक है।

3. मणिपुष्पक

प्रतीक- यह सहदेव का शंख था। इसका नाम दो शब्दों से मिलकर बना है-मणि (रत्न) और पुष्पक (फूल)।

महत्व- सहदेव पांडवों में सबसे छोटे थे और भविष्यवक्ता (त्रिकालदर्शी) होने के साथ-साथ अत्यंत विनम्र थे। मणिपुष्पक शंख का स्वरूप अत्यंत सुंदर, कीमती रत्नों से जड़ित और फूलों की तरह कोमल और आकर्षक था। यह शंख उनकी सात्विक प्रज्ञा और दिव्य दृष्टि का प्रतीक माना जाता है।

श्लोक-17 से 18

आगे संजय बताते है- हे पृथ्वीपति महाराज धृतराष्ट्र! महाधनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अजेय सात्यिकी, राजा द्रुपद, द्रौपदी के पांचो पुत्रों तथा विशाल भुजाओं वाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सभी ने अलग-अलग शंखो को बजाया।

श्लोक-19

उस भयंकर ध्वनि ने आकाश और पृथ्वी को गुंजायमान करते हुए धृतराष्ट्र पुत्रो के हृदयो को खंडित कर दिया।

श्लोक-20 से 21

हे राजन! इसके बाद हनुमान चिन्ह युक्त ध्वजा वाले रथ पर सवार अर्जुन ने धृतराष्ट्र के पुत्रो को युद्ध के लिए तैयार देखकर और शस्त्र चलाने के लिए तैयार होकर धनुष उठाकर उस समय श्रीकृष्ण से कहा- हे अविनाशी! दोनों सेनाओं के मध्य में मेरा रथ खड़ा कीजिये।

श्लोक-22

ताकि मैं इन सभी युद्ध करने की इच्छा से खड़े हुए योद्धाओं को देख लूँ कि किन-किन योद्धाओं के साथ मुझे युद्ध करना होगा।

श्लोक-23

इस युद्ध में दुष्ट दुर्योधन का प्रिय कार्य करने के इच्छुक जो योद्धा उपस्थित हैं, उनको मैं जरा भंली-भाँति देख तो लूँ।

श्लोक-24 से 25

संजय ने कहा- हे भारतवंशी धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा इस प्रकार सुनकर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओ के बीच में भीष्म पितामह और गुरु द्रोणाचार्य के सामने उत्तम रथ को खड़ा करके कहा- हे पार्थ! इन सब एकत्रित कौरवों को देखो।

श्लोक-26

वहाँ अर्जुन ने दोनों सेनाओं में स्थित चाचाओं, दादाओं, आचार्यो, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों और अपने स्नेहियों को देखा।

श्लोक-27

उस अर्जुन ने उन सब बंधुओ को यों खड़ा देखकर अत्यंत करुणा से युक्त होकर दुःखी मन से यह वचन कहा।

श्लोक-28 से 30

हे कृष्णा! युद्ध के लिए एकत्रित इन स्वजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं तथा मेरा मुँह सूख रहा है, मेरे शरीर में कम्पन और रोमांच उत्पन्न हो रहा है और मेरे हाथ से मेरा गांडीव छूट रहा है तथा मेरी त्वचा भी जल रही है।

श्लोक-31

हे केशव! मैं यहाँ खड़ा रहने में भी असमर्थ हो रहा हूँ और मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है तथा मैं सब ओर विपरीत लक्षणों को ही देख रहा हूँ।

श्लोक-32 से 34

हे कृष्ण! युद्ध में अपने स्वजनों का वध करके मैं कोई मंगल नहीं देख पा रहा हूँ तथा मैं न तो विजय, न राज्य और न ही सुख की आकांक्षा करता हूँ।

हे गोविन्द! हमें ऐसे राज्य, भोग और ऐसे जीवन से क्या लाभ है कि जिन लोगों के लिए हमें राज्य, भोग और सुख की आकांक्षा है वे सभी अपने लोग अपने जीवन व संपत्ति को छोड़कर इस युद्ध भूमि में खड़े हुए है।

श्लोक-35

हे मधुसूदन! भले ही ये लोग मेरा वध ही क्यों न कर दें फिर भी मैं तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन लोगो का वध करने की इच्छा नहीं रखता। फिर मात्र पृथ्वी लोक के लिए तो कहना ही क्या है!

श्लोक-36

हे कृष्ण! धृतराष्ट्र के इन पुत्रों को मारकर हमें क्या सुख प्राप्त होगा? इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा।

श्लोक-37

इसलिए हमें अपने ही भाइयों की हत्या का विचार त्याग देना चाहिए, क्योंकि हम अपने ही स्वजनों को मारकर कैसे सुखी होंगे?

श्लोक-38 से 39

यद्यपि लोभ से भ्रष्ट हृदय वाले ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोषों को और मित्रों से विरोध करने में पाप को नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन! कम से कम हम लोगों को तो कुल के नाश से उत्पन्न दोषों को जानते हुए इस पाप से हटने का प्रयास करना चाहिए?

श्लोक-40

कुल के नाश से तो सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं तथा धर्म के नाश होने पर पाप संपूर्ण कुल में फैल जाता है।

श्लोक-41

अधर्म के बढ़ जाने पर कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और स्त्रियों के दूषित होने से जाति मिश्रण उत्पन्न होता है।

श्लोक-42

ऐसा जाति मिश्रण कुलघातियों और कुल को नरक में ले जाने के लिए होता है क्योंकि इन लोगों की श्राद्ध-तर्पण आदि क्रियाएँ समाप्त होने पूर्वज पतन को प्राप्त होते हैं।

श्लोक-43

कुलनाशकारियों के ऐसे जाति- मिश्रण को उत्पन्न करने वाले दोषों से सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते है।

श्लोक-44

हे जनार्दन! कुलधर्म नष्ट हो जाने से मनुष्यों का वास निश्चित रूप से नर्क में होता है, ऐसा हम सुनते आये है।

श्लोक-45

हाय! ये कितने शोक की बात है कि हम राज्य सुख के लोभ में हम अपने स्वजनों की हत्या जैसा महापाप करने को तैयार हो गए।

श्लोक-46

युद्ध के इन दोषों को जानकर मै शस्त्रहीन होकर यदि मैं इन शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्रों द्वारा मारा भी जाता हूँ तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा।

श्लोक-47

संजय ने कहा- अर्जुन इस प्रकार कहकर बाण सहित धनुष को त्यागकर दुःखी मन से रथ के पिछले हिस्से में जाकर बैठ गया।



अध्याय-2

श्लोक-1 से 2

आगे संजय कहते हैं- श्रीकृष्ण ने उस प्रकार करुणामय होकर अश्रुपूरित नेत्रों वाले उस दुःखी अर्जुन से यह वाक्य कहा- हे अर्जुन! तुम्हें इस असमय में यह मोह किस हेतु प्राप्त हुआ हैं? ऐसा आचरण श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा करने योग्य नहीं है बल्कि ऐसा आचरण तुम्हें स्वर्ग से गिराने वाला और अपयश देने वाला है।

सरल व्याख्या- यहाँ अर्जुन को ऐसे समय अपनों को देखकर मोह जाग्रत हो गया है जबकि अर्जुन के सामर्थ्य को देखकर ही अनेक योद्धागण पांडवों के पक्ष में युद्ध करने को तैयार हुए हैं। यहाँ भगवान अर्जुन की मनोस्थिति को स्पष्ट देख रहे हैं कि अर्जुन इस समय युद्ध के लिए खड़े इन स्वजनों को देखकर दया के भाव से नहीं बल्कि मोह के भाव से ग्रसित हुआ है। **दया कभी भी अपने पराय को देखकर नहीं दिखाई जाती है बल्कि दया का भाव तो जीवमात्र के प्रति समदृष्टि से होना चाहिए तभी वह दया होती है।** अर्जुन ने तो इसके पूर्व अनेकों युद्धों में अनेक योद्धाओं का वध किया था, तब उसका दया भाव कहा चला गया था? क्योंकि तब उसके सामने युद्ध में कोई अपना नहीं खड़ा था। श्रीभगवान अर्जुन को समझा रहे है कि यदि तू अपने क्षत्रिय धर्म का भी पालन करता है तो मृत्युपरांत तुझे निश्चित ही स्वर्ग की प्राप्ति होगी क्योंकि तब तूने अपने धर्म का पालन किया होगा। किन्तु तेरा असमय इस प्रकार मोहग्रस्त होकर अपने धर्म का पालन न करना तुझे स्वर्ग से दूर तो कर ही देगा बल्कि तुझे जीवनभर का अपयश देने वाला भी होगा।

श्लोक-3

आगे श्रीभगवान कहते हैं- हे अर्जुन! तुम इस प्रकार नपुंसकता को प्राप्त मत हो, यह तुझे उचित नहीं जान पड़ती। हे परन्तप अर्जुन! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

श्लोक-4 से 5

अर्जुन कहते हैं- हे शत्रुनाशक कृष्ण! मै रणभूमि में दोनों ही पूज्यनीय भीष्म पितामह और गुरु द्रोण के विरुद्ध बाणों से कैसे युद्ध करूगाँ? क्योंकि मैं इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाना अपने लिए कल्याणकारक समझता हूँ किन्तु इन गुरुजनों की हत्या करके इनके रक्त से सने हुए अर्थ और काम रुपी भोगों को ही आखिरकार इस लोक में भोगूँगा।

सरल व्याख्या- यहाँ अर्जुन को अपने इन स्वजनों के मोह की रस्सी ने जकड़ लिया है जिसके कारण वो स्वधर्म का त्याग करके सन्यासी तक बनने को तैयार है। वह इन महानुभावों को पूज्यनीय मानता आया है। वह सोचता है कि जिन गुरुजनों ने मुझे श्रेष्ठ धनुर्धर बनाया और जीवनपर्यन्त प्रेम व स्नेह दिया ऐसे भीष्म पितामह व गुरु द्रोण का वध मैं कैसे कर सकता हूँ? इन पर शस्त्र उठाने से तो अच्छा है कि मैं अपना पेट भिक्षा में मिले अन्न से भरूँ। भिक्षा में मिली रोटी कम से कम इन महानुभावो के रक्त से सनी तो नहीं होगी। इन महानुभावों की हत्या करके मैं पर्याप्त धन अर्जित करके अपनी कामनाओं की पूर्ति भी कर लेता हूँ तो ऐसी भोग काम की पूर्ति होने से क्या लाभ, जिन भोग कामों में मेरे अपने गुरुजनों का रक्त लगा हो।

श्लोक-6 से 7

हम तो यह भी नहीं जानते कि हम लोगों के लिए क्या उचित है कि हम उन पर विजय प्राप्त कर लें या वे हम लोगो पर विजय प्राप्त कर ले। जिन लोगो को मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र मुकाबले में हमारे सामने खड़े हैं।

सरल व्याख्या- अज्ञान-जनित कायरतारूपी दोष से अभिभूत स्वभाव वाला तथा धर्म के विषय में अनभिज्ञ मै आपसे पूछता हूँ कि जो मेरे लिए कल्याणकारक हो वह निश्चय करके मुझसे कहिये क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ और आपके शरणागत हूँ। इसलिए मुझे उपदेश दीजिये।

अर्जुन एक उत्तम शिष्य है जिसके कारण स्वयं परमब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी तक बनने को तैयार हो गये। श्रीभगवान को तो पहले से ही पता था कि युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व ही अर्जुन मोह से ग्रस्त हो जायेगा और तब उसे मेरे परामर्श की आवश्यकता होगी। यह वही समय है कि जब अर्जुन स्वयं इस बात को श्रीभगवान के सामने स्वीकार कर रहा है कि वह इस समय अज्ञान व कायरता से ग्रसित है जिसके कारण उसका विवेक सोया हुआ है और वह यह निर्णय नहीं कर पा रहा है कि क्या उचित है और क्या अनुचित?

किन्तु यहाँ पर अर्जुन का एक बहुत ही अच्छा गुण सामने आ रहा है और वह यह हैं कि वह इस समय की अपनी कमजोर मनोस्थिति को स्वीकार कर रहा है। वह श्रीभगवान की योग्यता से भली-भाँति परिचित है। वैसे तो वह श्रीकृष्ण को अपना मित्र ही मानता आया है किन्तु वह यह जानता है कि इस समय उसे मित्र की सलाह की आवश्यकता नहीं है बल्कि एक योग्य गुरु के उपदेश की आवशयकता है। वह श्रीभगवान के प्रति पूर्ण शरणागत होकर एक शिष्य के रूप में उनसे आग्रह करता है कि जो मेरे लिए कल्याणकारक हो वह उचित प्रकार से समझाते हुए मुझसे कहिये। **एक उत्तम शिष्य वही है जो अर्जुन के समान याचक बनकर अपने गुरु के पास अपने कल्याण का मार्ग बताने का आग्रह करता है। गुरु से अपने कल्याण का मार्ग प्राप्त करने के लिए अहंकार की मुठ्ठी को खोलकर समर्पण की अंजुली बनानी होती है। अहंकार की मुठ्ठी को यदि गंगाजल में डालकर यदि हाथ बाहर निकाल जायेगा तो आपके हाथ कुछ भी नहीं आएगा और यदि समर्पण की अंजुली बनाकर गंगाजल में हाथ डालकर बाहर निकाल जायेगा तो गंगाजल भी हाथ आएगा और आप उसका पान कर उसे ग्रहण भी कर सकोगे। सद्गुरु के पास तो ज्ञान की गंगा बह रही है। आज हमें भी अर्जुन के समान**

भगवान श्रीकृष्ण के सामने शरणागत होकर भगवान के बताये श्री भगवत गीता जी के मार्ग का अनुसरण करना होगा और तब भगवान हमारे भी जीवन के सारथी बनकर हमारे लिए सही मार्ग प्रशस्थ करेंगे जिसके पश्चात् हमारे जीवन में अखंड आनंद, प्रेम, शांति व संतोष आ जायेगा।

श्लोक-8

पृथ्वी पर निष्कंटक धन-धान्य सम्पन्न राज्य और देवताओं का राज्य पाकर भी मैं वह उपाय नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके। मैं युद्ध नहीं करूँगा यह कहकर अर्जुन मौन हो गए।

श्लोक-9

संजय ने कहा! अर्जुन, जो शत्रु-विजयी और निद्रा पर विजय पाने वाला है, भगवान हृषीकेश से "मैं युद्ध नहीं करूँगा" ऐसा कहकर मौन हो गया।

श्लोक-10

हे धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के बीच दुःखी और मोह से भर गए अर्जुन को श्रीकृष्ण ने मानो मुस्कुराते हुए यह उपदेश कहा।



श्लोक-11

भगवान श्रीकृष्ण उपदेश करते हैं- हे अर्जुन! तू बात तो पंडितो के समान कर रहा है किन्तु तू शोक न करने योग्य लोगों के लिए शोक कर रहा है। ज्ञानीजन न तो मृत लोगों के लिए शोक करते है और न ही जीवित के लिए।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ भीष्म, द्रोणाचार्य, दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण व कौरवो के लिए कह रहे हैं कि ये लोग शोक करने योग्य नहीं क्योंकि इन्ही भीष्म व द्रोणाचार्य ने द्रौपदी के वस्त्र हरण के प्रयास पर भरी सभा में मौन धारण कर लिया था और दुर्योधन ने द्रौपदी को देखकर अपनी जंघा पीटी थी व दुःशासन ने द्रौपदी के वस्त्र हरण का प्रयास किया था। वही कर्ण ने भी द्रौपदी को अपमान जनक शब्द कहे थे। यही नहीं इन कौरवों ने भीम को बचपन में जहर दे दिया था और तो और इन्हीं कौरवों ने तुम पांडवों को तुम्हारी माता समेत वार्णावृत में जिन्दा जला देने का भी असफल प्रयास किया था। क्या ऐसे अधर्मी लोगो की मृत्यु का शोक करने की आवश्यकता है?

श्लोक-12

ऐसा नहीं है कि मैं किसी काल में नहीं था या तुम भी नहीं थे अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा भी है कि इससे आगे भी हम सब लोग नहीं रहेंगे। इसलिए विवेकीजन न तो मृत के प्रति शोक करते हैं और न ही जीवित के प्रति।

श्लोक-13

क्योंकि जिसप्रकार जीवात्मा के इस शरीर में शरीर की बचपन, युवावस्था और वृद्धावस्था होती है, उसी प्रकार जीवात्मा के अन्य शरीरों की प्राप्ति होने पर उसमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान अर्जुन को समझाने का प्रयास कर रहे है कि तुझे जो अपने नेत्रों से ये जो पंच महाभूत पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश से बना स्थूल शरीर दिखाई दे रहा है ये सत्स्वरूप नहीं है। हमारा वास्तविक स्वरुप तो वह है जो हमारे शरीरों के भीतर जीवात्मा के रूप में वास करता है। ये जीवात्मा सदा से थी, सदा से है और सदा ही रहेगी। इस जीवात्मा ने जो यह स्थूल शरीर धारण कर रखा है उस शरीर को अपनी जीवनयात्रा में आयु की अलग-अलग अवस्थाओं में अलग-अलग शरीर धारण करना पड़ता है- कभी बचपन, कभी युवावस्था और तो कभी वृद्धावस्था। यहाँ जीवात्मा द्वारा धारण शरीरों के आकार में तो परिवर्तन होता है किन्तु जीवात्मा वैसा का वैसा ही बना रहता है। वह न तो बचपन की अवस्था को प्राप्त होता है, न जवान होता है और न ही वृद्ध होता है। ज्ञानीजन इस सत्य को भली-भाँति जानते है कि शरीर के मारे जाने पर भी ये जीवात्मा नहीं मारा जाता बल्कि नए शरीर को धारण कर लेता है, क्योंकि ये जीवात्मा सनातन व अविनाशी है। इसलिए वे शरीर के मारे जाने पर विचलित नहीं होते। इसी बात को लेकर वेदान्त ने एक बहुत ही सुन्दर 'भेड़ चाल पर चलने वाला सिंह शावक'की कथा आती है-

एक गाँव में गोपाल नाम का चरवाहा बालक रहता था। वह प्रतिदिन अपनी भेड़ों को चारागाह मे ले जाकर, सारे दिन उन्हें वहीं चराया करता था। चारागाह एक सँकरी नदी के तट पर स्थित था। नदी के

उस पार घना जंगल था। चूँकि अनेक वन्य जीव वहाँ पानी पीने आया करते थे, अतः उसे बड़ी सावधानी के साथ अपने भेड़ों की निगरानी करनी पड़ती थी।

एक दिन नदी के उस पार एक सिंहनी आयी। गोपाल उसे देखकर सावधान हो गया। भेड़े उसे देखकर तेजी से गाँव की ओर भागने लगी। सिंहनी ने एक ही छलाँग में नदी को पार कर लिया। लगता था कि आज कोई अनहोनी घटने वाली है। लेकिन वैसा कुछ भी नहीं हुआ। सिंहनी जहाँ कूदी थी, वही पाँव फैलाये पड़ी रही। वह इतनी शान्त पड़ी थी कि गोपाल को शंका हुई। थोड़ी देर झाड़ियों में दुबके रहने के बाद वह धीरे-धीरे उसके पास गया। वह सचमुच ही मर चुकी थी।

वस्तुतः वह गर्भिणी थी और थकी होने के कारण यह छलाँग उसके लिए घातक सिद्ध हुआ था। वह उसी स्थान पर एक बच्चे को जन्म देकर परलोक सिधार चुकी थी।गोपाल उस सिंह-शावक को अपने घर ले गया। पहले तो उसे भेड़ों के दूध पर पाला गया, फिर थोड़ा बड़ा होने के बाद वह भी भेड़ों के दल में शामिल हो गया। सिंह-शावक के समान दिखने के बावजूद वह प्रतिदिन भेड़ों के साथ चरागाह में जाकर उन्हीं के जैसे घास चरता और बीच-बीच में मिमियाता।

गर्मियों के दिन थे। तीसरे पहर गोपाल एक वृक्ष के नीचे लेटा हुआ विश्राम कर रहा था। तभी सहसा एक बड़ा सिंह चारागाह में आ पहुँचा। भेड़ों का दल मिमियाता हुआ भागने लगा। गोपाल की तन्द्रा टूटी और वह अपनी भेड़ों के पीछे दौड़ा। परन्तु उसे देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सिंह ने भेड़ों को पकड़ने का कोई प्रयास नही किया। उसने तो केवल सिंह-शावक को ही दौड़कर पकड़ लिया और उसे अपने मुँह में दबाकर नदी के उस पार ले चला।

अपनी ही सिंह-जाति के एक बच्चे को भेड़ों के साथ घास खाते और मिमियाते देखकर उसे बहुत बुरा लगा था और इसी कारण वह उसे समझा देना चाहता था कि वह भी उसी के समान एक मांसाहारी सिंह-बच्चा है। उस पार पहुँचकर उसने दूर-दूर तक फैले पर्वतों को गुंजाते हुए जोर की आवाज में गर्जना की और शावक से बोला, 'तू भी ऐसे ही गर्जना कर।' उस भयंकर ध्वनि को सुनकर सिंह-शावक आतंकित तो हुआ था, परन्तु उसे विश्वास नहीं हुआ था।

काम न बनता देख सिंह उसे घसीटकर नदी के किनारे ले गया। वहाँ दोनो का चेहरा पानी में प्रतिबिम्बित हो रहा था। सिंह बोला, 'देख बेटा, हम दोनो के चेहरे कैसे एक जैसे दिखते हैं। तू भेड़ जैसा कदापि नहीं दिखता।'

बच्चे को थोड़ा विश्वास हुआ। तब सिंह जाकर थोड़ा-सा मांस ले आया। उसका एक टुकड़ा उसने अपने मुख में डाला और दूसरा बच्चे के मुख में ठूँस दिया। मांस को स्वाद चखते ही बच्चे की समझ में आ गया कि वह सिंह की ही जाति का है। आनन्द-विभोर होकर वह भी गरजने लगा। इसके बाद उसने कभी मुड़कर भेड़ों की ओर नही देखा और सिंह का अनुकरण करते हुए छलाँग लगाकर अपने वास्तविक निवास-घने जंगलों में चला गया।

कहानी का जो सारांश निकल कर आता है उससे यह सीख मिलती है कि इस संसार में अधिकांश लोग उसी शावक के समान अपने सत्स्वरूप (जीवात्मा) को नही जान पाते और जीवन पर्यन्त भेड़ चाल में चलते रहते है। सिंह के समान शक्तिशाली होने के बावजूद स्वयं को भेड़ के समान असहाय और कमजोर

समझते जीवन बिताते रहते है। यही बोध कराना भगवान श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति एक गुरू के समान उपदेश देना है कि तू यह शरीर मात्र नही बल्कि वह परम चेतन्य से सम्पन्न जीवात्मा है।

हमें स्वयं के विषय में अपनी धारणा को बदलने के लिए एक महान् ज्ञानी (गुरू) की जरूरत होती है। भगवान श्रीकृष्ण द्वारा भी अर्जुन को आत्मा, जीवात्मा का ज्ञान दिया जा रहा है,

जैसे उस सिंह ने शावक को दिया था कि तू भेड़ नही बल्कि मेरे ही समान सिंह है। यह कथा भी आत्मज्ञान का बोध कराती है कि हम जो स्वयं को समझते आये है वह हमारा वास्तविक स्वरूप नही है। हम उस परम चेतन्य के अंश जीवात्मा स्वरूप है जो शरीर को धारण किये हुये शरीर की विविध अवस्थाओं से होकर गुजरती है।

श्लोक-14

श्रीकृष्ण कहते हैं- हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग तो सुख-दुःख व सर्दी-गर्मी उत्पन्न करने वाले होते हैं और निश्चय ही ये उत्पन्न होने वाले, विनाशशील और सदा न रहने वाले होते है। इसलिए हे अर्जुन! तू उनको सहन कर।

सरल व्याख्या- इस मनुष्य देह में 5 ज्ञानेन्द्रियाँ होती है जिनके अपने-अपने 5 विषय होते है जिससे वह इस संसार का अनुभव करता है। आँख इन्द्रिय द्वारा देखता है, कण इन्द्रिय द्वारा सुनता है, नाक इन्द्रिय द्वारा सूंघता है, जीभ इन्द्रिय द्वारा स्वाद लेता है और त्वचा इन्द्रिय द्वारा स्पर्श का अनुभव करता है। इस प्रकार आँख का विषय दृश्य, कान का विषय आवाज, नाक का विषय गंध, जीभ का विषय स्वाद और त्वचा का विषय स्पर्श है। आँखे सुन्दर रूप, कान मधुर आवाज, नाक मनमोहक सुगंध, जीभ स्वादिष्ट पकवान और त्वचा कोमल स्पर्श पाने को व्याकुल रहती है, परन्तु ये आवश्यक नहीं है कि जीव को उसके मन, स्वभाव व रूचि के अनुकूल ही इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति हो जाए। हो सकता है कि आँखे कुरूप दृश्य का दर्शन कर ले, कानों को कर्कश ध्वनि सुनाई देने लगे, नाक में कही से दुर्गन्ध आने लगे, जीभ को बेस्वाद पदार्थ का सेवन करना पड़े और त्वचा को कष्ट देने वाला स्पर्श मिलने लगे। ये इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाला सुख एक निश्चित अवधि के लिए होता है, उसके बाद वह सुख धीरे-धीरे कम होने लगता है और कुछ समय के बाद पूरी तरह समाप्त हो जाने वाला होता है। मान लीजिये हमें खीर बहुत ही अच्छी लगती है। तो एक कटोरी खीर हमें अच्छी लगेगी, दूसरी कटोरी खीर भी हम खा जायेंगे और फिर जब हमें तीसरी कटोरी खीर जबरदस्ती खिलाई जाएगी तो हमारा सुख कम होने लगेगा और चौथी कटोरी खीर के बाद तो दुःख होने लगेगा। इस प्रकार इस उदाहरण से स्पष्ट है कि सांसारिक भोग विषय व इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न सुख सदा रहने वाला नहीं है।

श्लोक-15

श्रीभगवान कहते है- हे पुरुषश्रेष्ठ! जो ज्ञानीजन इन इन्द्रियों व उनके विषयों के संयोग से उत्पन्न सुख-दुःख सामान भाव से सहते हुए विचलित नहीं होते वे उस सदा रहने वाले अक्षय आनंद अमृत को प्राप्त करने योग्य होते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान उस आनंद की बात कर रहे है जो सदा रहने वाला है, जो अक्षय है और जो अमृत स्वरुप है। इसी अक्षय आनंद अमृत का उपदेश भगवान आगे के श्लोकों में करते हैं जिसे सांख्ययोग या ज्ञानयोग कहा जाता है। यह से आगे श्रीभगवान आत्मा का वर्णन प्रारम्भ करते है जिससे हमको स्वयं को आत्मा के रूप में जानना सम्भव होगा।

श्लोक-16

श्रीभगवान कहते हैं- असत वस्तु का तो अस्तित्व ही नहीं है और सत वस्तु का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों का ही स्वरुप तत्वज्ञानी पुरुषों के द्वारा देखा गया है।

सरल व्याख्या- तत्वज्ञानी पुरुषों के द्वारा इस संपूर्ण संसार का स्वरुप स्पष्ट रूप से देखा गया है। संसार की सृष्टि से पूर्व जब कुछ भी नहीं था तो एकमात्र परमचेतनरूपी परमात्मा ही था। उस परमब्रह्म सर्वशक्तिमान परमात्मा ने संकल्प किया- **''एकोहम बहुस्याम'' अर्थात् मैं एक से अनेक हो जाऊँ।** उस परमब्रह्म परमात्मा ने सबसे पहले स्वयं से अपनी सृजनात्मक शक्ति **(The Power of Creation/Creativity)** का सृजन किया। उस सृजनात्मक शक्ति ने योगमाया (जो विद्या माया तथा माया का योग है) का सृजन किया, फिर योगमाया ने त्रिगुणात्मक प्रकृति का सृजन किया जो सत,रज व तम तीन गुणों से युक्त थी। उसके बाद कालांतर में प्रकृति में महतत्व की उत्पत्ति हुई जिसे समष्टि जीवों की बुद्धि कहते है और आगे चलकर बुद्धि से समष्टि जीवों के अहंकार की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् पंचमहाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी) के पांच सूक्ष्म शरीरों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध) की उत्पत्ति हुई जिन्हे पंचतन्मात्राएँ कहते हैं। शब्द आकाश का, स्पर्श वायु का, रूप अग्नि का, रस जल का और गंध पृथ्वी का सूक्ष्म (अदृश्य) शरीर है, फिर क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी के रूप में पंच महाभूतों की उत्पत्ति हुई। उपरोक्त समस्त तत्वों के योग से संसार व उसमे रहने वाले जीवों का सृजन हुआ। संसार में जितने भी प्राणी हैं उनमे परमात्मा का अंशस्वरुप जीवात्मा वास करता है। यह जो सम्पूर्ण अनंत ब्रह्माण्ड है, यह मुख्यतः दो प्रकार का है- प्रथम सतस्वरुप और द्वितीय असतस्वरूप। ये जो संसार और इसमें रहने वाले शरीरधारी प्राणी हमें नेत्रों से दिखाई पड़ते है यह सभी असत् ही हैं, क्योंकि असत उसे कहा जाता है जो नाशवान है। सत् तो उसे कहा जाता है जिसका अस्तित्व काल की प्रत्येक अवस्था अर्थात् वर्तमान, भूत और भविष्य तीनो कालों में होता है। सत् का अस्तित्व सनातन, नित्य, अखंड, अपरिवर्तनशील, अजन्मा और अविनाशी है। आत्मा, ब्रह्म, परमात्मा ये सब उस सतस्वरूप के ही पर्यायवाची हैं जिसका कभी अभाव नहीं होता है।

तत्वज्ञानी पुरुष के पास सत् और असत् दोनों को ही स्वरुप से देखने के दिव्य नेत्र होते हैं। तत्वज्ञानी के पास यदि मिश्री आती है तो भी वह उसे अपनी दिव्यदृष्टि से देखता है। वह मिश्री को न देखकर उसके पीछे के कारण चीनी को देखेगा, फिर चीनी के पीछे के कारण गन्ने के रस को देखेगा, रस के पीछे के कारण वो गन्ने को देखेगा और गन्ने के पीछे के कारण वो पृथ्वी को देखेगा। फिर वो देखेगा कि पृथ्वी की उत्पत्ति जल से, जल की उत्पत्ति अग्नि से, अग्नि की उत्पत्ति वायु से और वायु की उत्पत्ति आकाश से हुई है। अब वो आगे देखता है कि आकाश की उत्पत्ति पंचतन्मात्राओ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध से हुई है। पंचतन्मात्राओ की उत्पति अहंतत्व से, अहंतत्व की उत्पत्ति महतत्व अर्थात् बुद्धि से, महतत्व की उत्पत्ति प्रकृति से, प्रकृति की उत्पत्ति माया से, माया की उत्पत्ति रचनात्मक योगशक्ति से और योग शक्ति

की उत्पत्ति परमात्मा से हुई है। **इस प्रकार परमात्मा ही अंतिम सत्य व हर उत्पति का मौलिक कारण है।** यही तत्वज्ञानी की दिव्यदृष्टि है जिससे उसने मिश्री में भी उपस्थित परम कारण परमात्मा के दर्शन कर लिए।

श्लोक-17

श्रीभगवान कहते हैं- नाशरहित तो तू उसको जान जिससे यह समस्त सृष्टि जगत व्याप्त है। इस अविनाशी (अक्षय) आत्मसत्ता का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान स्पष्ट कह रहे है कि इस संपूर्ण जगत में सब जगह आत्म की ही सत्ता है जिसे ब्रह्म व परमात्मा भी कहा जाता है और इस आत्म सत्ता को कोई भी नहीं मार सकता है।

श्लोक-18

इस अविनाशी, प्रमाण द्वारा सिद्ध न होने वाली, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गए है। इसलिए भी हे अर्जुन! तू युद्ध कर।

सरल व्याख्या- जीवात्मा कभी भी मारा नहीं जा सकता, इसलिए वो अविनाशी है और इसे किसी भी प्रमाण द्वारा बताया भी नहीं जा सकता। इस जीवात्मा के सब शरीर नाशवान है क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है। ऐसा जानकर भी तुझे युद्ध करना चाहिए।

श्लोक-19

जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मारा मानता है, वे दोनों ही सत्य को नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जाता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि यह आत्मा कोई भी कर्म नहीं करता है क्योकि यह तो दृष्टा साक्षी आत्मा मात्र है, जिसको कोई भी नहीं मार सकता है और न ही ये स्वयं किसी के द्वारा मारा ही जाता है क्योंकि ये तो अविनाशी परमचेतना है। **यहाँ आत्मा का तात्पर्य हैं- "मैं"। मैं अर्थात् वह शक्ति जिससे यह सम्पूर्ण शरीर चलता, बैठता, देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूंघता व स्वाद लेता है। यही हमारा वास्तविक परिचय है, यही मैं हूँ, यही तुम हो और यही हम सब हैं।**

श्लोक-20 से 21

यह आत्मा न तो कभी जन्मता है और न ही कभी मरता है अथवा एकबार उत्पन्न होकर अस्तित्वस्वरूप दिखता ही है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सदा रहने वाला सनातन व पुरातन है, शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता। हे पार्थ! जो इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और क्षयशून्य जानता है, वह पुरुष किस प्रकार किसी को मरवाता है और कैसे किसी को मरता है?

सरल व्याख्या- भगवान का तात्पर्य स्पष्ट है कि जो ज्ञानी पुरुष ये जानता है कि ये आत्मा कभी न नाश होने वाला, सदा बने रहने वाला, कभी भी जन्म न लेने वाला और कभी भी कम न होने वाला है, वह न तो किसी को मरवाता है और न ही किसी को मरता है।

श्लोक-22

जिस प्रकार मनुष्य अपने पुराने वस्त्रो को त्यागकर दूसरे नए वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है।

सरल व्याख्या- हम वास्तव में स्वयं को नहीं जानते है, जिसके कारण हम जीवात्मा स्वरुप नए-नए शरीर धारण करते रहते है। हमारा शरीर 3 स्तरों में बंटा हुआ है-

1. स्थूल शरीर-

ये पांच महाभूतों का बना होता है- आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी। इसका जन्म होता है, यह बदलता है और अंत में नष्ट हो जाता है।

2. सूक्ष्म शरीर-

ये 19 तत्वों से बना होता है-

सूक्ष्म शरीर की पहली श्रेणी है-

अंतःकरण- जिसमे मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार आते है। मन संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि निर्णय करती है, चित्त में पुराने अनुभव, विचार संस्कार रहते है। अहंकार में मैं का भाव होता है कि मैं कर्ता हूँ।

सूक्ष्म शरीर की दूसरी श्रेणी है-

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ- जिससे देखने, सुनने, सूंघने, स्वाद व स्पर्श का ज्ञान होता है।

सूक्ष्म शरीर की तीसरी श्रेणी है-

पाँच कर्मेन्द्रियाँ- जिससे हम बोलने, पकड़ने, चलने, मल- विसर्जन व प्रजनन का कार्य करते है।

सूक्ष्म शरीर की चौथी श्रेणी है-

पंच प्राण- अर्थात् जीवन ऊर्जा जिन्हे प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान कहते है।

3. कारण शरीर-

यह सबसे सुक्ष्म और गूढ़ शरीर है। यह अविद्या का शरीर है जो हमें इस अज्ञान में रखता है कि मैं शरीर हूँ, मैं जीव हूँ। इसमें सभी संस्कार, कर्मो के बीज और पूर्वजन्मों की वासनाएं संगृहीत रहती हैं, जब आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है, तब यही कारण शरीर नष्ट होता है।

जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर नए कपड़े पहन लेता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेती है।

श्लोक-23

श्रीभगवान कहते हैं- इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल इसे गला नहीं सकता और न ही वायु इसे सूखा ही सकती है।

श्लोक-24

आत्मा न काटी जा सकती है, न जलायी जा सकती है, न गीली की जा सकती है, न सुखाई जा सकती है और वह सनातन, सर्वव्यापी, अचल और सदैव रहने वाली है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान आत्मा व शरीर का भेद स्पष्ट कर रहे हैं कि जो कट जाये, जल जाये," गल जाये और सूख जाये वो आत्मा अर्थात् "मैं" नहीं हो सकता, वह तो शरीर मात्र होता है। श्रीभगवान ये भी कह रहे है कि यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है। ये आत्मा नित्य और सनातन है किन्तु भगवान यहाँ आत्मा के सर्वव्यापी होने को भी बता रहे है, जिसका तात्पर्य है कि इस सृष्टि में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ ये आत्मा नहीं है। भगवान के इस उद्घोष से ये भी स्पष्ट होता है कि आत्मा और परमात्मा में कोई भी भेद नहीं है। इसी बात को छान्दोग्य उपनिषद में भी कहा गया है- **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** जिसका अर्थ है- **''यह सम्पूर्ण जगत वास्तव में ब्रह्म ही है।''** इसी कारण भगवान आत्मा के सर्वव्यापी गुण को बता रहे हैं। इसके साथ ही आत्मा को स्थिर व अचल भी बता रहे है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि ये आत्मा न तो कही आता है और न ही कहीं जाता है।

श्लोक-25

श्रीभगवान कहते हैं- यह आत्मा शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है, न ही इस आत्मा का चिंतन किया जा सकता है और यह आत्मा विकाररहित भी कहा जाता है। अतः हे अर्जुन! इस आत्मा को इस प्रकार से जानते हुए भी तुम्हे शोक नहीं करना चाहिए।

सरल व्याख्या- जीवन में हमारे द्वारा किसी भी पदार्थ का वर्णन हमारी इन्द्रियों के द्वारा किया जाता है, किन्तु आत्मा का वर्णन इन्द्रियों की अनुभव क्षमता से बाहर का विषय है। आत्मा ही वास्तव में परमात्मा है और ये परमात्मा व्यक्ति नहीं बल्कि शक्ति है, साथ ही ये आत्मा विकाररहित भी है क्योंकि इसका कोई आकार, रूप, रंग आदि नहीं है, जिसके कारण इसमें कोई परिवर्तन भी नहीं किया जा सकता है।

श्लोक-26 से 27

हे बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन! यदि तुम इस आत्मा को सदा जन्मनेवाला और सदा मरने वाला ही समझते हो तो भी तुम्हें इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए, क्योकि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म निश्चिन्त है। ऐसा जानते हुए भी तुझे शोक नहीं करना चाहिए।

श्लोक-28

हे भारत! ये सभी प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और केवल जीवनकाल में ही प्रकट हैं और मरने के बाद भी अप्रकट हो जाने वाले हैं, फिर ऐसी स्थिति में क्या चिंता करना?

सरल व्याख्या- श्रीभगवान स्पष्ट कह रहे हैं कि जन्म से पहले ये जीवात्मा अप्रकट अवस्था में रहता है और जैसे ही जीवात्मा को प्रकृति द्वारा उचित अवसर व वातावरण प्राप्त होता है वह जीवात्मा शरीर धारण कर लेता है और मृत्यु के पश्चात् पुनः उसके शरीर के पंच महाभूत पुनः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश में मिल जाते हैं जिससे वह पुनः अप्रकट अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति से प्राप्त तत्वों का प्रकृति में ही लय हो जाता है, न कुछ घटता है और न कुछ बढ़ता है, न कुछ जन्मता है और न कुछ मरता है, सिर्फ रूपांतरण ही होता है। यह प्रतीति वैसे ही है जैसे सागर में बुलबुले, फेन, लहरें आदि रूप कुछ समय के लिए दिखाई देते है और कुछ समय के बाद पुनः सागर में लय हो जाते हैं। यही बात आइंस्टाइन ने भी कही थी कि सबकुछ ऊर्जा मात्र है। ये ऊर्जा कभी नष्ट नहीं होती मात्र रूपांतरित ही होती है।

श्लोक-29

श्रीभगवान आगे कहते है- कोई एक महात्मा ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है,वैसे ही कोई दूसरा महात्मा आश्चर्य की भाँति इसको तत्व से बताता है और अन्य कोई व्यक्ति इस आत्मा के तत्वज्ञान को आश्चर्य की भाँति सुनता है और फिर बहुत से तो सुनकर भी इस आत्मा को जान नहीं पाते।

सरल व्याख्या- आत्मा के प्रमुख आध्यात्मिक गुण-

1. शुद्धता (Purity)-

आत्मा मूलतः पूर्णतः शुद्ध होती है। उसमें कोई भी पाप या दोष नहीं होता। पाप और पुण्य शरीर और मन के स्तर पर होते हैं।

2. चेतनता (Consciousness)-

आत्मा चेतन है, अर्थात् उसमें जानने, समझने और अनुभव करने की शक्ति है। शरीर निर्जीव है, लेकिन आत्मा के कारण वह जीवित प्रतीत होता है।

3. नित्यत्व (Eternality)-

आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है। यह नित्य अर्थात् सदा रहने वाली है।

4. शांति (Peace)-

आत्मा का मूल स्वभाव शांत और स्थिर है। जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होती है, तब मन और जीवन में पूर्ण शांति अनुभव होती है।

5. आनन्दस्वरूपता (Blissful Nature)-

आत्मा आनंदस्वरूप है। बाह्य सुख क्षणिक होते हैं, पर आत्मा का आनंद स्थायी और अंतःप्रेरित होता है।

6. ज्ञानस्वरूपता (Wisdom)-

आत्मा ज्ञानमयी है। यह सच्चे ज्ञान का स्त्रोत है, जब व्यक्ति आत्मा से जुड़ता है, तब उसमें विवेक और सच्चे निर्णय की क्षमता जागृत होती है।

7. निरपेक्षता (Detachment)-

आत्मा किसी भी वस्तु, संबंध या परिस्थिति से बंधी नहीं होती।

8. स्वतंत्रता (Independence)-

आत्मा किसी बाह्य वस्तु या व्यक्ति पर निर्भर नहीं होती। यह स्वतंत्र, स्वप्रकाशित और आत्मनिर्भर होती है।

9. समत्व (Equanimity)-

आत्मा के स्तर पर सबके प्रति समान दृष्टि होती है। वहाँ न राग होता है, न द्वेष। यह समता भाव आत्मा का गुण है।

10. दिव्यता (Divinity)-

आत्मा ईश्वर का अंश है- इस कारण उसमें दिव्य गुण अंतर्निहित हैं।

आत्मा के गुणों को अनुभव कैसे करें?

I. इस आत्मा को ध्यान (Meditation) द्वारा अनुभव किया जा सकता है।
II. इस आत्मा को आत्मचिंतन (Self-reflection) द्वारा अनुभव किया जा सकता है।
III. इस आत्मा को सद्ग्रंथों का अध्ययन और गुरू के सानिध्य द्वारा अनुभव किया जा सकता है।
IV. इस आत्मा को निष्काम सेवा द्वारा अनुभव किया जा सकता है।

इस आत्मा का अनुभव इन्द्रिय, मन व बुद्धि द्वारा नहीं किया जा सकता है जिसके कारण इसे नेत्रों द्वारा देखा भी नहीं जा सकता है और न ही इसका चिन्तन किया जा सकता है, क्योंकि यह अचिन्त्य है।

जिस साधक पर सद्गुरु भगवान की कृपा हो जाती है वह आत्मा को देख सकता है, किन्तु यहाँ आत्मा को देखना नेत्रों द्वारा न होकर आत्मा द्वारा आत्मा को देखना है। आत्मज्ञानी विद्वान् इसका बड़े ही आश्चर्य के साथ अपने आत्मानुभव द्वारा इसके तत्वज्ञान का वर्णन करता है और दूसरा व्यक्ति इस तत्वज्ञान को बड़े ही आश्चर्य से सुनता है और अनेको तो सुनकर भी इस तत्वज्ञान को नहीं समझ पाते है।

श्लोक-30

श्रीभगवान आगे कहते है- हे भारत! यह आत्मा सबके शरीरों में सदा ही अवध्य है, इस कारण तुम सारे प्राणियों के लिए शोक करने के योग्य नहीं हो।

श्लोक-31

हे पार्थ! अपने क्षत्रिय धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं हो क्योकि धर्मयुद्ध के अतिरिक्त क्षत्रिय के लिए अन्य कुछ भी कल्याणकारी नहीं है।

श्लोक-32

हे पार्थ! अपने आप प्राप्त खुले हुए स्वर्ग के द्वार की तरह इस प्रकार के धर्मयुद्ध भाग्यवान क्षत्रियगण को ही प्राप्त होते हैं।

श्लोक-33-34

किन्तु यदि तू इस धर्मयुद्ध को नहीं लड़ेगा तो निजधर्म व कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा, तथा सभी लोग भी अनंतकाल तक तेरी अपकीर्ति का गान करते रहेंगे और सम्मानित व्यक्ति के लिए तो अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर होती है।

सरल व्याख्या- प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करना चाहिए। धर्म का तात्पर्य है अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार कर्त्तव्य का पालन करना, जो वास्तव में किसी के द्वारा धारण किया हुआ स्वभाव होता है। यह संपूर्ण सृष्टि ही धर्मपालन से ही चल रही है। सूर्य यदि अपने ताप धर्म, जल यदि अपने रस धर्म, बादल यदि अपने वर्षा धर्म, नदी यदि अपने प्रवाह धर्म को व चाँद यदि अपने शीतलता धर्म का पालन नहीं करेगा तो सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन ही रुक जायेगा और ये सृष्टि समाप्त हो जाएगी। इसलिए अपने स्वधर्म का पालन करना सभी के लिए अनिवार्य है। यही धर्म का स्वरुप भी है। चार पुरूषार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष में भी प्रथम पुरूषार्थ धर्म ही कहा गया है जिसने धर्म का मार्ग स्वीकार कर लिया है, उसे अर्थ, काम व मोक्ष स्वतः ही प्राप्त हो जायेगें।

श्लोक-35

महारथी लोग भी तुम्हे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ समझेंगे और उन लोगो की दृष्टि में तुम सम्मानित होकर भी तुक्षता को प्राप्त होगे।

श्लोक-36

तुम्हारे शत्रुजन भी तुम्हारे सामर्थ्य की निंदा करते हुए बहुत से न कहने योग्य वचन कहेंगे, उससे अधिक दुःख और क्या होगा?

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ अर्जुन को उसका सम्मान स्मरण कराकर यह बता रहे हैं कि तेरे लिए इस प्रकार शस्त्रों का त्याग करना उचित नहीं है। तू अब तक जिन महारथियों के बीच सम्मान का पात्र था वे ही तुझे कायर कहेंगे और तेरा सारा शौर्य और ऐश्वर्य धूल में मिल जायेगा। वे सभी तुझे युद्ध से भागा हुआ भगोड़ा ही कहेंगे। स्वधर्म से मुँह फेर लेने के कारण देवता, ऋषिगण व आने वाली पीढ़ियाँ तुम्हारी बहुत प्रकार से निंदा करेंगे, जिससे तेरा बड़ा अपयश होगा, जो बड़े दीर्घकाल तक रहेगा।

श्लोक-37

हे कुन्तीपुत्र! यदि तू युद्ध में मारा भी जाता है तो तुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि विजय होता है तो इस पृथ्वी का राज्य भोगेगा, इसलिए युद्ध के लिए दृढ़ निश्चय करके खड़ा हो जा।

श्लोक-38

सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को सामान समझकर उसके पश्चात् युद्ध के लिए तैयार हो जाओ, इस प्रकार युद्ध करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

सरल व्याख्या- सुख से वही सुखी होते हैं जो सुख को ज्यादा महत्व देते है और दुःख से भी वही दुःखी होते हैं जो दुःख को ज्यादा महत्व देते हैं, किन्तु जो आत्मानंद की स्थिति में होते है वे न तो दुःख को महत्व देते हैं और न ही सुख को बल्कि वो मध्य की स्थिति में रहते हैं, जिसे आनन्द कहा जाता है। सार ये है कि दुःख आये तो आये उसका स्वागत किया जाए एक अतिथि की तरह। दुःख के सामने मुस्कुराते रहो तो वह दुःख भी कहेगा कि ये ज्यादा भाव नहीं दे रहा है। वह दुःख भी आपसे हाथ जोड़कर कहेगा- तो फिर हम चलते हैं। उस समय आप मुस्कुराते हुए उससे पूछो- बस! रुकना नहीं है? वो दुःख कहेगा- नहीं, बस! अब हम जा रहे है। तो आप कहना-ठीक है पधारो। फिर आने के लिए कहने की भी जरुरत नहीं है। **दुःख आये तो ये दुःख की मर्जी है किन्तु दुःखी होना ये हमारी मर्जी है।**

वास्तव में मनुष्य को कोई कर्म नहीं बांधता बल्कि मनुष्य का कर्ताभिमान व कर्मफल में आसक्ति ही उसे बांधती है जिससे वह सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय के द्वन्द में जीवनपर्यन्त फंसा रहता है। ऐसा वह अज्ञान के कारण करता है क्योंकि वह स्वयं के यथार्थ स्वरुप आत्मा को नहीं जानता। सांख्ययोग में आत्मा कर्ता नहीं कहा गया है बल्कि वह चेतन स्वरूप द्रष्टा साक्षी आत्मा कहा गया है, जिस प्रकार फूल की सुगंध को देखा नहीं जा सकता किन्तु नासिका द्वारा अनुभव किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को देखा नहीं जा सकता किन्तु आत्मा को आत्मा के द्वारा अनुभव सद्गुरु श्रीभगवान की कृपा से किया जा सकता है। सद्गुरु श्रीभगवान की कृपा भी तभी होती है जब साधक स्वयं को शरीर, मन व बुद्धि समेत उनके चरणों में समर्पित कर देता है और और पूर्ण शरणागत हो जाता है।

श्लोक-39

हे पार्थ! अब तक जो कुछ ज्ञान मैंने तुझे दिया था वह ज्ञानयोग के विषय में था और अब तू इसे कर्मयोग के विषय में सुन जिससे युक्त तेरी बुद्धि कर्मबन्धन को भली- भाँति त्याग देगी।

सरल व्याख्या- कर्म का बंधन तभी उत्पन्न होता है जब व्यक्ति कर्ताभिमान से कर्म करता है। यदि वह कर्ताभाव को त्याग कर कार्यरूपी स्वभाविक कर्म करेगा तो उसका कोई बन्धन उत्पन्न नही होगा, क्योंकि जो स्वयं को दृष्टा-साक्षी-आत्मा मानकर प्रकृति द्वारा होता हुआ कर्म देखेगा,वहीं वास्तव में सत्य को देखेगा, जब हम स्वयं को कर्ता नहीं मानते तो हम भोगता भी नहीं रह जाते। ऐसी प्रज्ञा जागृत होना ही कर्मबन्धन से मुक्ति है।

श्लोक-40

इस कर्मयोग में जो भी कर्म तेरे द्वारा किया जायेगा उसके बीज का नाश भी नहीं होगा और उल्टा उसका फलरूप दोष भी नहीं लगेगा। ऐसा कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा सा साधन करने पर तू जन्म-मृत्यु रुपी महान भय से भी मुक्त हो जायेगा।

सरल व्याख्या- हमारे पास दो मार्ग हैं- पहला कि हम स्वयं को कर्ता माने कि करने वाला मैं हूँ। तो हमें कर्मों का भोगता भी बनना पड़ेगा। तब हमें हमारे कर्म के अनुसार पाप-पुण्य की भी प्राप्ति होगी, और हम कर्म बंधन में भी बंधेंगे, जिसके कारण हमें अपने प्रारब्ध के अनुसार सुख-दुःख भी भोगना पड़ेगा। दूसरा मार्ग है हम स्वयं को दृष्टा साक्षी अकर्ता आत्मा माने, जिससे हम कर्ता नहीं बनेंगे तो हम भोगता भी नहीं बनेंगे, जब हम इन कर्मो को प्रकृति द्वारा किया हुआ मानेंगे तो न तो पाप की उत्पत्ति होगी और न ही पुण्य की। इस प्रकार किया हुआ कर्म व उसका फल परमात्मा को समर्पित रहता है जिससे कोई कर्मबन्धन भी उत्पन्न नहीं होता और कर्म के बीज का भी नाश नहीं होता, क्योंकि जब शरीर निमित्त मात्र बनकर कर्म करता है तो कर्म अपना परिणाम तो देता ही है अर्थात् वह बीज से एक फलदयी एवं छायादार वृक्ष बनकर इस संसार को लाभान्वित भी कराता है।

इस प्रकार के कर्मयोग अर्थात् योग का आशय लेने वाला जन्म और मरण जैसे महान भय से भी मुक्त रहता है।

श्लोक-41

आगे श्री भगवान कह रहे है- हे अर्जुन! ऐसे कर्मयोगी की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है किन्तु अस्थिर विचार वाले विवेकहीन सकाम मनुष्यों की बुद्धि निश्चय ही अनेक भेदों वाली और अनंत होती है।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान निष्काम कर्मयोगी की बात कर रहे है जिसने फल की कामना का त्याग तो कर ही दिया है, साथ ही कर्मफल व कर्म भी ईश्वर को समर्पित कर दिए है। ऐसा कर्मयोगी यही मानता है कि वह कुछ नहीं करता बल्कि ईश्वर की प्रेरणा से जो कार्य उसे मिलते जाते हैं उन्हें वह ईश्वर की आज्ञा समझ कर करता जाता है। ऐसे कर्मयोगी की बुद्धि स्थिर होती है जबकि सकाम कर्ताभिमानी पुरुष की बुद्धि अनेक संशयो से भरी होती है।

श्लोक-42-44

हे अर्जुन! जो लोग भोगों में तन्मय हो रहे हैं, जो वेदों में वर्णित कर्मफल में ही आसक्त है, जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है, जिनके लिए स्वर्ग से बढ़कर अन्य कोई वस्तु नहीं है। वे वेदों में वर्णित शोभायुक्त कर्मकाण्डों अर्थात् क्रियाओं का वर्णन करते हैं कि जिसमें सकाम कर्म द्वारा भोग व ऐश्वर्य प्राप्ति की क्रियाओं के अनुष्ठान का साधन बताया गया है। ऐसे प्राणियों का चित्त भोग व ऐश्वर्य में अत्यंत आसक्त हो गया है और ऐसे पुरुषों की एकमात्र परमात्मा में बुद्धि स्थिर नहीं रहती।

सरल व्याख्या- कुछ मनुष्य ऐसे भी है जो वेदों के वास्तविक तात्पर्य का वर्णन न करके उन वैदिक कर्मकाण्डो के फलों को बढ़ा चढ़ाकर प्रस्तुत करते है जो स्वर्ग जैसे भोग ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हैं और जो पाप पुण्य का बंधन उत्पन्न करने वाले हैं। ऐसे वेद प्रतिपादक उन अविवेकी अस्थिर बुद्धि वाले मनुष्यो से स्वर्ग व उनके भोग ऐश्वर्य प्राप्त होने वाले विविध उपाय करवाते जिससे सकामी मनुष्य उनकी अलंकारमय भाषा में फंस जाते है और परमात्मा से दूर हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य वास्तविक आत्मिक आनंद स्वरुप परमानन्द की अनुभूति कर ही नहीं पाते। इसलिए ऐसे मनुष्य समत्व कर्मयोग का आचरण नहीं कर पाते है और संसार चक्र में भटकते रहते हैं।

श्लोक-45

हे अर्जुन! ये वेद तीन गुणों अर्थात् सत, रज व तम तथा उनसे प्राप्त होने वाले भोगों व उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं। इसलिए तू उन भोगों में अनासक्त होकर, हर्ष-शोक द्वंद्व से रहित होकर नित्यस्वरूप परमात्मा में स्थित हो जा तथा योग-क्षेम की आशा त्यागकर स्वाधीन अंतःकरण वाला हो जा।

सरल व्याख्या- प्रत्येक मनुष्य में सत, रज व तम ये तीनों ही पाए जाते हैं किन्तु प्रत्येक मनुष्य में इनकी मात्रा अलग-अलग होती है जिसके प्रभाव में आकर ये जीवन व्यवहार करते हैं। सतोगुणी मनुष्य शांत, विनम्र, सदाचारी और संतुलित होता है, रजोगुणी मनुष्य महत्वकांक्षी, लालची, असन्तोषी, अहंकारी व सुख-दुःख के द्वंदों में फँसा रहता है और तमोगुणी मनुष्य आलस्य, निद्रा, शोक, हिंसा, स्वार्थ व अविवेक से ग्रस्त रहता है। वेद इन्हीं गुणों व इनसे प्राप्त होने वाले भोगों व उनके साधन का मार्ग बताते हैं। *श्रीभगवान के अनुसार तू इन तीन गुणों से परे हो अनासक्त हो जा व सुख-दुःख के द्वंदों से मुक्त होकर नित्यस्वरूप परमात्मा में स्थित हो जा, साथ ही तू जो तुझे नहीं प्राप्त है उसे प्राप्त करने की इच्छा का भी त्याग कर दे और जो कुछ तेरे पास है उसके रक्षण का प्रयास भी त्यागकर आत्मवान हो जा*

श्लोक-46

आगे श्रीभगवान कहते हैं- सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त जाने पर जैसे छोटे जलाशय का मनुष्य की दृष्टि में जितना महत्त्व रह जाता है, वैसा ही महत्व ब्रह्म को तत्त्व से जानने वाले ब्राह्मण का वेदों में रह जाता है।

सरल व्याख्या- जैसे किसी व्यक्ति को अत्यंत मीठे जल से परिपूर्ण जलाशय की प्राप्ति हो जाती है तो वह कुँए को कोई महत्व नहीं देता। उसी प्रकार जिस ज्ञानी को परमब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है तो वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है जिसके कारण उसकी वैदिक काम्यसाधनो में कोई रूचि नहीं रह जाती। ऐसा ज्ञानी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष कहता है- हे प्रभु! आपकी कृपा से मेरी चेतना पर जमी कामना की धूल हट गयी है जिससे मेरे अस्तित्व पर छाया समस्त अंधकार गायब हो गया है और मुझे अपने वास्तविक प्रकाशमय आत्मस्वरूप का बोध हो गया है और मुझे यह ज्ञात हो गया है कि **मैं आत्मस्वरूप आपका ही अंश हूँ, आप पूर्ण हैं, आप ही समस्त जीवों में आत्मस्वरूप में विद्यमान हैं। आप से ही जो आत्मा निकली है वह भी पूर्ण है क्योंकि वह आपका ही स्वरुप है। यह आत्मा आप जैसे पूर्ण से निकलने के कारण ही पूर्ण है और आपसे निकलने के**

बाद भी आपकी पूर्णता यथावत विध्यमान रहती है। यह वैसा ही है जैसे एक चुम्बक अपने संपर्क में आने वाले अनेक लोहखंडो को अपने चुम्बकत्व का गुण दे देता है फिर भी उसके चुम्बकत्व गुण में कोई कमी नहीं आती है, वैसे ही हम जब शरणागत होकर परमात्मा के संपर्क में आते है तो हमारे अंदर भी वही आत्मा परमात्मा का अंश बन के चमकने लगता है, हम जीवात्मा से आत्मा बन जाते हैं और पूर्ण हो जाते हैं। **यहीं जीव से शिव बनने का मार्ग है। यही नर से नारायण बनने का मार्ग है।**

श्लोक-47

श्रीभगवान आगे कहते हैं- तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, कर्मों के फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मफल में आसक्त न हो और न ही तेरी कर्म न करने में ही आसक्ति हो।

सरल व्याख्या- यदि तू स्वयं को कर्ता भी मानता है तो भी कर्म करना ही तेरे अधिकार में है। उस कर्म से तेरे लक्ष्य की प्राप्ति होगी या नहीं ये तेरे अधिकार में नहीं है। **कर्ताभिमानी के कर्म का फल तो उसे उसके प्रारब्ध व संचित कर्मो के अनुसार ही प्राप्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म अवश्य करें क्योंकि कर्म से ही उसका प्रारब्ध बनता है। स्वयं को एक अकर्ता दृष्टा साक्षी आत्मा मानने वाले योगी का प्रारब्ध परमात्मा स्वयं लिखता है जबकि कर्ताभिमानी का प्रारब्ध उसके द्वारा किये कर्मों के अनुसार लिखा जाता है।**

श्लोक-48

हे धनंजय! तू योग में स्थित होकर, आसक्ति को त्यागकर, सफलता और असफलता में समान बुद्धि रखते हुए अपने कर्त्तव्य कर्मों को कर, क्योंकि समत्व ही योग कहलाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि फल के प्राप्ति की आसक्ति को त्याग कर अपने कर्त्तव्यरूपी कर्मों को करता जा और प्रत्येक कार्य को करते समय तुमको किसी भी पदार्थ में, कर्म में यह उसके फल में अथवा किसी भी प्राणी में विषम भाव न रखकर निरन्तर समभाव में स्थित रहना चाहिए। एक सच्चे साधक के लिए सुख-दुःख, जय-पराजय, लाभ-हानि, प्रशंसा-निंदा जैसे सभी जीवन अनुभवों में मन को स्थिर, शांत और समभाव में रखना ही समत्व योग कहलाता है।

श्लोक-49

हे धनंजय (अर्जुन)! बुद्धियोग अर्थात् समत्वबुद्धि से रहित कर्म बहुत हीन है, इसलिए तू बुद्धियोग का आश्रय ले। फल की कामना करने वाले लोग वास्तव में कृपण अर्थात् निम्न बुद्धि वाले होते हैं।

श्लोक-50

समबुद्धि वाला मनुष्य इस जीवन में पुण्य और पाप दोनों को त्याग देता है। इसलिए तू योग में लग जा, क्योंकि योग ही कर्मों में कुशलता है।

श्लोक-51

बुद्धियोग से युक्त ज्ञानी पुरुष, कर्मों के फलों को त्यागकर, जन्म के बंधनों से मुक्त हो जाते हैं और उस परम शांति रूप पद को प्राप्त करते हैं, जो सर्वथा निर्लिप्त और रोगरहित है।

श्लोक-52

जब तेरी बुद्धि मोह के कीचड़ को पार कर जाएगी, तब तू श्रवण योग्य अर्थात् जो कुछ सुना है, उन सबसे वैराग्य को प्राप्त होगा।

श्लोक-53

जब तेरी बुद्धि श्रुतियों की विरोधाभासी बातों से विचलित नहीं होगी और वह अचल व स्थिर हो जाएगी, तब तू समाधि में स्थित होकर सच्चे योग को प्राप्त करेगा, अर्थात् तेरा परमात्मा से सदा के लिए संयोग हो जायेगा।

श्लोक-54

अर्जुन ने कहा- हे केशव! जो पुरुष स्थितप्रज्ञ अर्थात् स्थिर बुद्धि वाला हो गया है, उसकी भाषा क्या होती है? वह कैसे बैठता है, कैसे चलता है और कैसे व्यवहार करता है?

श्लोक-55

श्रीभगवान ने कहा- हे पार्थ! जब मनुष्य मन में उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं को पूर्ण रूप से त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहने लगता है, तभी वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

श्लोक-56

जो पुरुष दुःखों में व्याकुल नहीं होता, और सुखों में आसक्त नहीं होता, जो राग, भय और क्रोध से रहित है। वह स्थिरबुद्धि मुनि (स्थितप्रज्ञ) कहलाता है।

श्लोक-57

जो पुरुष हर स्थान पर आसक्ति रहित है, और शुभ या अशुभ वस्तु प्राप्त होने पर ना तो प्रसन्न होता है और न ही द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है।

श्लोक-58

जिस समय यह पुरुष अपनी इंद्रियों को इंद्रिय विषयों से वैसे ही हटा लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को चारों ओर से समेट लेता है, तब यह समझना चाहिए कि उस पुरुष की बुद्धि स्थिर है।

श्लोक-59

विषय अर्थात् इंद्रिय सुख तो उपवास करने वाले शरीरधारी से दूर हो जाते हैं, परंतु उनकी रसना (आसक्ति) नहीं जाती, परन्तु जब वह परम आत्मा या ईश्वर को देख लेता है, तब उस स्थितिप्रज्ञ पुरूष की आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके सांसरिक मोह माया, इच्छाओं या कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाती है।

श्लोक-60

हे कुन्तीपुत्र! संयम में लगे हुए बुद्धिमान पुरुष का भी मन, बलवान और चंचल इंद्रियाँ

जबरदस्ती अपनी ओर खींच लेती हैं।

श्लोक-61

जो पुरुष अपनी सभी इंद्रियों को वश में करके, मुझ भगवान में ही एकनिष्ठ होकर स्थित रहता है, उसी की बुद्धि स्थिर मानी जाती है।

श्लोक-62-63

जब मनुष्य विषयों का चिंतन करता है, तो उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति से कामना, और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह (विवेकहीनता) उत्पन्न होता है, मोह से स्मृति भ्रम (ज्ञान की विस्मृति) हो जाता है। स्मृति भ्रंश से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि नष्ट होने पर मनुष्य का पतन हो जाता है।

श्लोक-64

जो मनुष्य राग और द्वेष से मुक्त होकर, इंद्रियों द्वारा विषयों का भोग करता है, और जिसकी आत्मा स्वयं के अधीन अर्थात् परमात्मा के अधीन है- वह अंततः शांत, प्रसन्न और ईश्वर द्वारा प्राप्त प्रसादयुक्त चित्त को प्राप्त करता है।

श्लोक-65

प्रसाद अर्थात् आंतरिक शांति की प्राप्ति से, मनुष्य के सभी दुखों का नाश हो जाता है, और जब मन प्रसन्न होता है, तब उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

श्लोक-66

जिसका मन ईश्वर से नहीं जुड़ा है, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती। ऐसे व्यक्ति में न तो ध्यान भावना होती है, और न ही ध्यानहीन व्यक्ति को शांति मिलती है, और जहाँ शांति नहीं, वहाँ सुख कैसे हो सकता है?

श्लोक-67

जब मनुष्य की इंद्रियाँ भोगों के पीछे भागती हैं, और मन उनका अनुसरण करता है, तब वे इंद्रियाँ उस व्यक्ति की प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि को उसी प्रकार नष्ट कर देती हैं- जैसे जल में बहती हवा नाव को डगमगाकर दूर ले जाती है और जो मन इंद्रियों के पीछे भागता है, वह बुद्धि और विवेक को नष्ट कर देता है।

सरल व्याख्या- ऐसा व्यक्ति अपने जीवन की दिशा खो देता है, जैसे पानी में नाव तूफान में भटक जाती है।

श्लोक-68

इसलिए हे महाबाहों अर्जुन! जिसकी सभी इंद्रियाँ उनके विषयों से सर्वथा वश में हैं, उसी की प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि स्थिर मानी जाती है।

श्लोक-69

जो समय सभी प्राणियों के लिए रात्रि के समान है, उस समय संयमी पुरुष जागृत रहता है, और जिस समय सभी प्राणी जागते हैं, वह समय उस ज्ञानी पुरुष के लिए रात्रि के समान होता है।

सरल व्याख्या- यह श्लोक पूरी तरह रूपक शैली में है। यह सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन की तुलना करता है, जो समय या चेतना सभी जीवों के लिए अंधकार समान है। सामान्य व्यक्ति के लिए आत्मा, मोक्ष, वैराग्य, विवेक बिल्कुल अंधकार के समान है अर्थात् उसके लिए यह सभी बातें अज्ञात व अंजान होती हैं। वे लोग केवल इंद्रिय सुख, धन, पद व परिवार आदि में ही लिप्त रहते हैं। यह आध्यात्मिक अज्ञान की रात है लेकिन उसी रात में संयमी पुरुष जागते हैं यानी वह आत्मिक सत्य को देखते है। वह उसमें कोई प्रकाश या ज्ञान नहीं देखता उसकी दृष्टि में यह सब माया अर्थात् भ्रम है।

जिस वस्तु को सामान्य लोग तुच्छ समझते हैं जैसे आत्मज्ञान, वही ज्ञानी के लिए जीवन का केंद्र होती है, और जिसे दुनिया महत्त्वपूर्ण मानती है अर्थात् भौतिक सुख, वह ज्ञानी को अंधकार समान प्रतीत होती है।

श्लोक-70

जैसे नदियाँ निरंतर जल से भरे हुए, स्थिर और अचल समुद्र में प्रविष्ट होती हैं, उसी प्रकार, जब सभी इच्छाएँ उसी स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में प्रविष्ट होती हैं जो कामनाओं से रहित होता है, तब वही स्थितप्रज्ञ व्यक्ति शांति को प्राप्त करता है, कामनाओं से युक्त व्यक्ति नहीं।

सरल व्याख्या- यहाँ स्थिरबुद्धि पुरुष की तुलना गहरे समुद्र से की गई है- जो बाहर से कितना भी जलराशि (इच्छाएँ, विषय) आएँ, वह डोलता नहीं है, न उफनता है, न सूखता है। समुद्र निरंतर सैकड़ों नदियों का जल ग्रहण करता है, लेकिन उसकी शांति और स्थिरता बनी रहती है। वह न तो घमंड करता

है, न ही अधीर होता है। स्थितप्रज्ञ पुरुष भी ऐसा ही है- कामनाएँ उसके पास आती हैं, लेकिन वह प्रभावित नहीं होता। भोग की वस्तुएँ आती हैं, सम्मान, धन, पद-सब कुछ उसके जीवन में आता है परन्तु वह उनमें लिप्त नहीं होता। ऐसा व्यक्ति असली शांति पाता है, लेकिन जो व्यक्ति कामनाओं का दास है, वह कभी भी सच्ची शांति का अनुभव नहीं कर सकता।

श्लोक-71

जो पुरुष सभी इच्छाओं को त्याग देता है, और स्पृहा (लालच या आकांक्षा) रहित होकर विचरण करता है, जो न ममता करता है और न ही अहंकार करता है- वही सच्ची शांति को प्राप्त करता है।

श्लोक-72

हे पार्थ! यह है ब्राह्मी स्थिति- जिसे प्राप्त करने के बाद मनुष्य मोहग्रस्त नहीं होता, जो व्यक्ति जीवन के अंत में भी इसी स्थिति में स्थित रहता है, वह ब्रह्म (परमात्मा) में लीन हो जाता है।

सरल व्याख्या- यह स्थिति है समता की, वैराग्य की, बुद्धि की स्थिरता की, जिसे कहते हैं- ब्रह्मज्ञान में स्थित चित्त। जब हम स्वयं से यह प्रश्न करते है- "**मै शरीर नहीं, मैं मन नहीं, चित्त नहीं, अहंकार नहीं, इस प्रकार जब हम अनात्म पदार्थो का निषेध करते चले जाते हैं तो हम अपने मूलस्वरूप तक पहुंच ही जाते हैं। इस प्रकार अनात्म पदार्थो का निषेध करते-करते जब निषेध करने को कुछ नहीं रह जाता तो प्रश्न उठता है कि ये निषेध करने वाला कौन है? जिसका निषेध किया वो तो पता चला परन्तु जिसने निषेध किया अब उस पर चेतना केंद्रित होती है, कि वो कौन है? निषेध वह कर रहा है जिसका निषेध नहीं किया जा सकता, जो हर काल, हर अवस्था का साक्षी है चाहे वह जाग्रत अवस्था हो या निद्रावस्था, जब लोग नींद से जागते है तो कहते हैं कि आज बहुत गहरी नींद आयी, एक स्वप्न भी नहीं देखा। इसका मतलब हुआ जिसने सपना देखने या न देखने का रिकॉर्ड रखा वह साक्षी ही मेरा आत्मस्वरूप है। वही मैं हूँ, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, वही परमात्मा है। यही वह ब्राह्मी स्थिति है जिसे प्राप्त करते ही निर्वाण प्राप्त हो जाता है। ऐसा ब्रह्मलीन साधक जन्म मृत्यु से परे हो जाता है। मृत्यु के बाद उसे ब्रह्मनिर्वाण तो प्राप्त होता ही है किन्तु वह तो शरीर के रहते भी निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। वह सदा जीवनमुक्त रहता है।"**



अध्याय-3

श्लोक 1- 2

अर्जुन बोले-

हे श्रीकृष्ण! यदि आपको ज्ञानयोग कर्मयोग से श्रेष्ठ लगता है, तो फिर आप मुझे इस भयानक युद्ध में क्यों लगा रहे हैं? आपकी बातें मेरी बुद्धि को भ्रमित कर रही हैं, ऐसा लग रहा है कि आप दो अलग बातें कह रहे हैं। कृपया एक ही निश्चित मार्ग बताइए, जिससे मेरा सच्चा कल्याण हो सके।

श्लोक 3-4

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैंः-

हे निष्पाप अर्जुन! मैंने पहले दो प्रकार के मार्ग बताए हैं- ज्ञानी जनों के लिए ज्ञानयोग, और कर्मयोगियों के लिए कर्मयोग। दोनों ही मोक्ष की ओर ले जाते हैं, लेकिन व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं।

सरल व्याख्या- कर्म न करने मात्र से कोई व्यक्ति कर्म के बंधन से मुक्त नहीं होता और केवल सन्यास अर्थात् कर्म का त्याग कर लेने से कोई सिद्धि नहीं मिलती। कर्म से भागना मुक्ति का रास्ता नहीं हैं। कर्म करते हुए भी आत्मज्ञान से जुड़कर मोक्ष पाया जा सकता हैं, जब साधक को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि वह द्रष्टा साक्षी आत्मा है तो वह कर्ताभिमान से मुक्त हो जाता है और कर्म करते हुए भी कोई कर्म उसे बाँधते नहीं हैं क्योंकि वह अपने सारे कर्म व उसके फल को भी ईश्वर को समर्पित कर देता है।

श्लोक-5

कोई भी व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता। सब लोग प्रकृति से उत्पन्न गुणों अर्थात् सत्त्व, रज व तम के प्रभाव से मजबूरी में कुछ-न-कुछ कर्म अवश्य करते रहते हैं।

सरल व्याख्या- वास्तव में कोई भी व्यक्ति कर्म किये बगैर तो एक क्षण भी नहीं रह सकता। आँखें हैं तो वे अवश्य देखेंगी, पलकें हैं तो वो अवश्य झपकेंगी, कान हैं तो वे अवश्य सुनेंगें। इसी प्रकार प्रकृति द्वारा प्राप्त सत, रज व तम इन तीन गुणों के अधीन होकर भी प्रत्येक मनुष्य इनके अनुसार कर्म करने को बाध्य होता है।

श्लोक-6

जो व्यक्ति बाहर से अपनी इंद्रियों को रोककर बैठा है, परन्तु मन से इंद्रियों के विषयों को याद करता रहता है, वह मूर्ख और ढोंगी कहलाता है। उसका त्याग केवल दिखावा है।

सरल व्याख्या- जैसे कोई व्यक्ति ऊपरी तौर पर तो भगवान की मूरत के सामने घंटी बजा रहा है किन्तु उसके अंतर्मन में किसी सुन्दर स्त्री का शरीर घूम रहा है तो ऐसे मनुष्य का आचरण इंद्रिय संयम वाला नहीं बल्कि मिथ्याचार वाला कहलायेगा।

श्लोक-7

किन्तु हे अर्जुन! जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों को मन से नियंत्रित करके, आसक्ति रहित होकर कर्मयोग में लगा रहता है, वही वास्तव में श्रेष्ठ है।

श्लोक-8

तुम अपना नियत अर्थात् कर्त्तव्य कर्म करो, क्योंकि कर्म करना, कर्म न करने से श्रेष्ठ है। यहाँ तक कि शरीर का पालन भी बिना कर्म के नहीं हो सकता।

श्लोक-9

जो कर्म यज्ञ अर्थात् ईश्वर के लिए नहीं किए जाते, वे मनुष्य को बाँध देते हैं। इसलिए तुम आसक्ति छोड़कर, ईश्वर को सर्मपण भाव से ही अपना कर्म करो।

श्लोक-10

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना करते समय मनुष्यों के साथ यज्ञ की भी रचना की और कहा- तुम लोग यज्ञ से ही समृद्ध और विकसित हो, यह यज्ञ तुम्हारी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाला हो।

श्लोक 11-12

तुम यज्ञ के द्वारा देवताओं अर्थात् प्रकृति के तत्वों जैसे सूर्य, वायु, वर्षा आदि का पोषण करो और वे भी तुम्हारा पालन करेंगे। इस प्रकार आपसी सहयोग के माध्यम से तुम परम कल्याण अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति और सुख को प्राप्त करोगे। देवता यज्ञ से प्रसन्न होकर तुम्हें वांछित भोग अर्थात् संसाधन देंगे, पर यदि तुम उन्हें वापस कुछ न देकर केवल भोग करते हो, तो तुम चोरी कर रहे हो।

सरल व्याख्या- देवताओं के पूजन की एक विधा हवन भी कही गयी है। इस हवन में वेदमंत्रों द्वारा देवताओं को जो हविष्य दिया जाता है उससे देवताओं की शक्तियों में तो वृद्धि होती ही है साथ ही साथ हवन अग्नि में पड़ने वाली औषधियों के प्रभाव से वातावरण भी शुद्ध होता है, जिससे पर्याप्त वर्षा भी होती है। वर्षा द्वारा अन्न, फल, विविध फसलें तथा पशुओं के लिए चारा भी प्राप्त होता है। इन्हें प्राप्त करके हमें देवताओं का धन्यवाद स्वरुप इनका भोग उन्हें अर्पित करना चाहिए। इस प्रकार यज्ञ द्वारा पोषित देवता प्रसन्न होकर तुम मनुष्यों को इच्छित भोग देते रहेंगे। इस परम्परा का पालन करके यज्ञ द्वारा तुम लोग देवताओं का पोषण करो और वे देवता तुम लोगों का पोषण करें। इन देवताओं द्वारा प्राप्त होने वाले भोग पदार्थों को उन्हें अर्पण किये बिना जो पुरुष इनको भोगेगा, वह निश्चित ही चोर है।

श्लोक-13

जो व्यक्ति यज्ञ अर्थात् ईश्वर को भोग अर्पण के बाद बचा हुआ अन्न खाते हैं (जो अन्न पहले सेवा व त्याग के लिए ईश्वर को समर्पित होता है) वे सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो लोग केवल अपने लिए भोजन बनाते और खाते हैं, वे पाप ही खाते हैं।

श्लोक-14

सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न और जीवित रहते हैं। अन्न की उत्पत्ति होती है वर्षा से, वर्षा होती है यज्ञ से और यज्ञ संभव होता है कर्त्तव्य कर्मों से।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान श्रीकृष्ण ने सृष्टि के चक्र को वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में बताया है-प्राणी अन्न से जीते हैं। अन्न वर्षा से होता है। वर्षा यज्ञ अर्थात् त्याग-सेवा से होती है। यज्ञ केवल कर्म अर्थात् कर्त्तव्यपालन से ही संभव है, अगर हम कर्तव्य नहीं करेंगे, तो यज्ञ नहीं होगा, यज्ञ नहीं होगा, तो वर्षा नहीं होगी, और वर्षा नहीं होगी, तो अन्न और जीवन संभव नहीं। यही है यज्ञचक्र- जो संसार को चलाता है।

श्लोक-15

तू यह जान ले कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है और प्रकृति परमात्मा से उत्पन्न होती है। इसलिए सर्वव्यापी परमात्मा सदा यज्ञ में विद्यमान है।

सरल व्याख्या- कल्प के आदि में कुछ भी नहीं था, सिवाय परमात्मा के। उस समय परमात्मा ने ही संकल्प करके 24 तत्वों से सम्पन्न प्रकृति का सृजन किया था, किन्तु 24 तत्वों से सम्पन्न होने के बाद भी जब प्रकृति में कोई सक्रियता नहीं उत्पन्न हुई तो स्वयं परमात्मा ने अपने पुरुषरूप में प्रकृति में प्रवेश किया। प्रकृति और पुरुष के इस मिलन से सृष्टि का सम्पूर्ण अस्तित्व सक्रिय हो उठा। इस जगत में जो सृजन ब्रह्मा द्वारा, पोषण विष्णु द्वारा व उपसंहार जो महेश द्वारा यज्ञ स्वरूप चल रहा है, उसके मूल में सदा से परमात्मा ही प्रविष्टि किये हुए हैं।

श्लोक-16

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार प्रचलित सृष्टि चक्र का अनुसरण नहीं करता, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगो में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

सरल व्याख्या- यहाँ यज्ञ को ईश्वर के प्रति कृतज्ञता और प्रकृति के साथ संतुलन के रूप में बताया गया है। इस प्रकार कर्म और यज्ञ, दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं- और यही जीवन को समृद्ध बनाते हैं। प्रकृति की हर क्रिया भी एक यज्ञ है। यहाँ सब कुछ देने और सहयोग पर आधारित है।

प्रकृति के मुख्य घटक क्या-क्या यज्ञ करते है-

सूर्य - बिना कुछ लिए, लगातार प्रकाश और ऊर्जा देता है।

चन्द्र - समस्त वनस्पतियों और औषाधीय पौधो व वृक्षो को सोम प्रदान करता हैं।

पृथ्वी - समस्त जीवन उपयोगी सामाग्री व आश्रय प्रदान करती हैं।

पेड़ - बिना मूल्य के ऑक्सीजन, फल व छाया देते हैं।

वर्षा - समस्त जीवों को जल देती है।

पशु - दूध, श्रम, खाद इत्यादि देता है।

मनुष्य यदि वह समाज और प्रकृति की सेवा करे तो वह यज्ञ का अंग बनता है। हमारा पेड़ लगाना, पेड़ो को बचाना व प्रदूषण की रोकथाम करना ही सही मायने में देवताओं के लिए यज्ञ, पूजन व अर्पण की क्रिया है, जिसे प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन व्यवहार में अवश्य उतारना चाहिए। यही मनुष्य का स्वधर्म है जिसका पालन यदि मनुष्य करता रहेगा तो उसे प्रकृति से सदा इच्छित वस्तुएँ प्राप्त होती रहेंगी। सृष्टि का मूल नियम ही यज्ञ है- अर्थात् त्याग, सेवा और परस्पर सहयोग। ब्रह्मा ने जब सृष्टि की, तो यह नियम निर्धारित किया कि मनुष्य यज्ञों अर्थात् निस्वार्थ कर्मों द्वारा अपनी और समाज की उन्नति करे।

श्लोक 17-18

जो मनुष्य आत्मा में ही आनंद लेता है, आत्मा में ही संतुष्ट और तृप्त रहता है- उसके लिए कोई कर्म शेष नहीं रहता, अर्थात् उसे कोई बाह्य कर्म करने की आवश्यकता नहीं। उस आत्मज्ञानी को कर्म करने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता और कर्म न करने से भी उसका कुछ खोता नहीं। उसे किसी भी प्राणी या वस्तु से कोई आश्रय या लाभ की अपेक्षा नहीं रहती।

सरल व्याख्या- जो आत्मज्ञानी है, वह स्वतः सिद्ध है। उसका कोई स्वार्थ नहीं होता, इसलिए न तो वह कर्मफल चाहता है, न किसी पर निर्भर होता है। वह पूर्ण स्वतंत्र और निर्विकारी होता है।ऐसा व्यक्ति कर्म से ऊपर होता है स्वयं को कर्ता भी नहीं मानता- लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह स्थूल शरीर से कर्म नहीं करता। बल्कि वह कर्म करता है परन्तु बिना आसक्ति और फल की अपेक्षा के।

श्लोक-19

इसलिए तू निरंतर आसक्ति से रहित होकर कार्यरूपी कर्म सावधानीपूर्वक कर क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करने वाला मनुष्य मोक्ष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करता है।

श्लोक 20-21

जनकादि भी इसी प्रकार के कर्म द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए थे। इसलिए लोक-कल्याण को दृष्टि में रखते हुए भी इस प्रकार ही कर्म करना उचित है क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा आचरण करते हैं। वह जो कुछ भी प्रमाणित कर देता है लोग उसी का अनुसरण करते हैं।

सरल व्याख्या- भगवान श्रीकृष्ण यहाँ भी अर्जुन को कर्मयोग का वह गूढ़ रहस्य बता रहे है जो उन्होंने दूसरे अध्याय के श्लोक 39, 47, 50 व 51 में बताया था। यह पहले ही इन श्लोकों में स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्म का ही बंधन उत्पन्न होता है, कार्य का नहीं, जिस कार्य को किसी फल की आशा से नहीं किया

जाता वह मात्र प्रकृति-प्रदत्त सहज क्रिया ही होती है। कार्य सदा फलासक्ति से मुक्त रहता है जिससे पाप-पुण्य कोई भी फल उत्पन्न नहीं होता, जब मनुष्य आसक्ति रहित होकर निरन्तर कार्यरूपी कर्म करता रहता है तो एक समय ऐसा आता है जब उसके पूर्व संचित कर्म भी पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं और वह कर्म बंधन से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। अपने कर्मों से दूसरों को प्रेरणा देना भी एक महान कर्म है। जनकादि ने भी इसी प्रकार आसक्ति रहित होकर लोक-कल्याण को ध्यान में रखते हुए कर्म किया ताकि आने वाली पीढ़ी भी उनसे प्रेरणा लेकर इसी प्रकार कर्म करे।

जिस भाग्यशाली जीवात्मा ने सदगुरू भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से अपने को दृष्टा-साक्षी आत्मा रूप मे अनुभव कर लिया है, वह किसी भी कर्म का अपने को कर्ता नहीं मानता है। वह ज्ञानी पुरुष जो दृष्टा-साक्षी भाव में स्थित हो चुका है वो किसी भी भोग को, मै भोक्ता हूँ, ऐसा विचार नहीं रखता है। ज्ञानी पुरुष के द्वारा समस्त कर्म भोग होने पर भी वह अकर्ता व अभोक्ता ही बना रहता है, इसलिये ज्ञानी पुरुष का जीवन लीलामय हो जाता हैं। संसार का व्यवहार होते हुये भी वह असंग ही रहता है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं-

1. **संचित कर्म-** ये कर्म जीव के जन्म-जन्मान्तरो के संचित कर्म होते हैं जिन्हें इस प्रकार सरल भाषा में समझना चाहिए कि जैसे- किसी भंडार ग्रह **(Store Room)** में गेँहू की बोरियाँ जमा हैं किन्तु वे अभी बाहर नहीं निकाली गयीं हैं।
2. **प्रारब्ध कर्म-** ये वे कर्म हैं जो हमारे वर्तमान में स्थिति-परिस्थिति बनकर जीवन काल में प्रकट होते जाते हैं, जिससे हमें सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, सर्दी-गर्मी आदि का अनुभव होता हैं। इन्हें वैसे ही समझना चाहिए कि ये हमारे भंडार ग्रह से लाई हुई वे गेँहू की बोरी से पिसाए गये आटे के समान हैं जिसका उपभोग हम वर्तमान समय में कर रहे हैं।
3. **क्रियामाणकर्म-** ये हमारे वे कर्म है जो हमारे द्वारा वर्तमान समय में किये जा रहे हैं। ये अच्छे कर्म का अच्छा (पुण्य) फल देते हैं और बुरे कर्म का बुरा (पाप) फल देते हैं जो संचित कर्म में इकट्ठा होकर प्रारब्ध भी भुगवाते हैं। इस प्रकार क्रियामाणकर्म ही हमारे भाग्य का निर्माण करता हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हम स्वयं अपने भाग्य के रचियता हैं।

श्लोक-22

हे अर्जुन! तीनों लोकों अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल में मेरा कोई भी कर्तव्य नहीं है। न कोई वस्तु है जिसे मैं प्राप्त नहीं कर चुका हूँ और न कुछ ऐसा है जिसे मुझे प्राप्त करना है, फिर भी मैं कर्म में निरंतर लगा रहता हूँ।

श्लोक-23

हे पार्थ! यदि मैं कभी भी सावधानी से कर्म न करूँ, तो बड़ी ही विषम स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, क्योंकि तब सभी मनुष्य मेरे मार्ग का ही अनुसरण करेंगे।

श्लोक-24

यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सारी प्रजा नष्ट हो जाएगी। मैं समाज में नैतिक व सामाजिक अव्यवस्था का कारण बनूँगा और इन प्राणियों का विनाश कर बैठूँगा।

श्लोक 25-26

हे भारत! जैसे अज्ञानी लोग फल की इच्छा से आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ही विद्वान पुरुष को भी, बिना आसक्ति के, लोक की भलाई के लिए कर्म करना चाहिए। ज्ञानी व्यक्ति को अज्ञानी कर्म में आसक्त लोगों की बुद्धि को भ्रमित नहीं करना चाहिए, बल्कि स्वयं संतुलन पूर्वक आचरण करते हुए उन्हें भी कर्म में लगे रहने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

श्लोक 27-28

सब कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाते हैं तो भी अहंकार से मुर्ख बना व्यक्ति ''मैं कर्ता हूँ'' यह मानता है परन्तु हे महाबाहो! गुण व कर्म विभाग के तत्वों को जानने वाला ज्ञानयोगी गुण ही गुण में बरत रहे है यह मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।

सरल व्याख्या- प्रकृति के तीन गुण अर्थात् सत्, रज व तम- ये ही सभी कर्म कराते हैं। हमारा शरीर, मन, बुद्धि भी प्रकृति के भाग हैं, इसलिए उनके द्वारा ही कार्य होते हैं। लेकिन अहंकार के कारण व्यक्ति यह मान बैठता है कि "मैं ही करता हूँ", और यही उसकी मूढ़ता है। श्रीकृष्ण यह समझा रहे हैं कि सच्चा ज्ञानी जानता है कि कर्तापन का भाव मिथ्या है। वास्तव में, आत्मा साक्षी है- वह सिर्फ देखती है, कर्म प्रकृति करती है। तत्वविद् को यह ज्ञान होता है कि आत्मा और प्रकृति में क्या भेद है। वह जानता है कि सत्, रज व तम- ये गुण ही कर्मों को प्रेरित करते हैं। जब मन, इंद्रियाँ, बुद्धि- सब प्रकृति के अंग हैं, तो उनमें जो कुछ हो रहा है, वह प्रकृति का ही कार्य है। इस दृष्टि से ज्ञानी व्यक्ति न तो किसी कर्म का अहंकार करता है, न ही उसमें लिप्त होता है।

I. **पुरुष क्या है?** पुरुष शुद्ध चेतना है। वह निर्दोष, निष्क्रिय, साक्षी मात्र, और अविनाशी आत्मा है। पुरुष ना कुछ करता है, ना ही उसमें कोई गुण होता है। वह केवल द्रष्टा (देखने वाला) मात्र है। पुरूष आत्मा का प्रतीक है, इसे ही परमात्मा, परमब्रह्म, शुद्ध चेतना आदि के स्वरूप में श्रीकृष्ण द्वारा बताया गया है।

II. **प्रकृति क्या है**? प्रकृति वह तत्व है जिसमें त्रिगुण (सत्, रज व तम) विद्यमान होते हैं। यह सक्रिय, परिवर्तनशील और भौतिक सृष्टि की जननी है। बुद्धि, अहंकार व मन, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) और पाँच तन्मात्राएँ प्रकृति के सूक्ष्म शरीर ये सब प्रकृति से ही उत्पन्न हैं। प्रकृति ही संपूर्ण सृष्टि का निर्माण करती है।

III. **प्रकृति और पुरुष का संबंध-** पुरुष और प्रकृति दोनों अनादी माने गए हैं, जब पुरुष प्रकृति के साथ जुड़ता है, तब संसार का अनुभव होता है। प्रकृति क्रिया करती है, और पुरुष उस

IV. क्रिया का साक्षी होता है। यह भ्रम कि ''मैं कर रहा हूँ'', तब होता है जब पुरुष प्रकृति से अपनी पहचान जोड़ लेता है। यही अज्ञान (अविद्या) का मूल है।

V. **मुक्ति का मार्ग-** जब पुरुष यह समझ लेता है कि वह प्रकृति से भिन्न है- न वह शरीर है, न मन, न बुद्धि- तब वह मुक्त हो जाता है। यह बोध ही कैवल्य (पूर्ण स्वतंत्रता) है जिसमें न पुर्नजन्म होता है न ही किसी प्रकार के दुःख की प्राप्ति होती है।

श्लोक-29

प्रकृति के गुणों से मोहित हुए मनुष्य गुणों के कर्मों में आसक्त रहते हैं, सब कुछ जानने वाले आत्मज्ञ को चाहिए कि वह उन सभी मन्द बुद्धियुक्त अल्पज्ञों को भ्रमित न करे अर्थात् कर्म त्याग के लिए प्रेरित न करें।

सरल व्याख्या- प्रकति के सत्, रज व तम गुणों से मोहित होकर व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के विषय भोगो को प्राप्त करने हेतु बड़े आसक्त भाव से कर्म करता है। उसकी यही आसक्ति उसका कर्मों के प्रति अहंकार बढ़ाती है और वह कर्मों से प्राप्त फल के प्रति भी आसक्त हो जाता है। उसका यही कर्ताभिमान व कर्मफल के प्रति आसक्ति ही उसे पाप-पुण्य में बाँधती है और वो पुनः जन्मे व पुनः मरने के बंधन में बंध जाता है। बहुत से आत्मज्ञ सन्यासी हो जाते है और वे बड़े विद्वान भी होते हैं, किन्तु कुछ विद्वान संसार से वैराग्य करके सन्यास का मार्ग बताते हैं। ऐसे ज्ञानियों को जनसाधारण को सन्यास व वैराग्य का मार्ग न बताकर निष्काम कर्मयोग का मार्ग बताना चाहिए न कि उन्हें इस प्रकार भ्रमित करना चाहिए।

श्लोक 30-32

विवेक बुद्धि से सम्पूर्ण कर्म मुझ परमेश्वर में अर्पण करके कर्मफल के प्रति आशारहित, ममतारहित और शोकशून्य होकर तू युद्ध कर, जो मनुष्य मेरे प्रति श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो मेरे प्रति ईर्ष्यायुक्त होकर मेरे इस मत का अनुसरण नहीं करते, उन अविवेकियों की बुद्धि को मोहित और नष्ट हुआ ही समझ।

सरल व्याख्या- विवेक बुद्धि से युक्त ऐसा भक्त स्वयं को भगवान का एक छोटा सा कर्मचारी समझता है और भगवान को अपनी देह, बुद्धि, स्त्री-संतान, धन-सम्पदा, मान-सम्मान अदि का मालिक मानता है। वह यह मानता है कि मुझमे कुछ भी करने की शक्ति नहीं है, भगवान ही सब प्रकार की शक्ति प्रदान करके मुझ कर्मचारी द्वारा अपनी इच्छानुसार यथायोग्य कर्म करवा रहे हैं। मैं तो उनके हाथ का यन्त्र मात्र बनकर उन्ही के काम करता हूँ। मैं तो उन्ही की प्रेरणा से प्रेरित होकर कठपुतली की भाँति उनके सारे काम करता रहता हूँ। मैं तो सभी कर्मों व उनसे उत्पन्न होने वाले फलों का भोक्ता भी निमित्त मात्र ही हूँ। इसलिए मेरी उन कर्मों व उनके फलों के प्रति कोई भी आशा नहीं है। बड़ी ही मनमोहक बात श्री राम चरित मानस में कही गयी है-

नाथ सकल सम्पदा तुम्हारी।
मैं सेवक समेत सूत नारी।।

जब सबकुछ भगवान की इच्छा से, भगवान द्वारा प्राप्त शक्ति से, भगवान द्वारा रचित समुदाय द्वारा ही किया जा रहा है तो मुझे किसी भी कर्म की सफलता के प्रति आशान्वित या विफलता के भय से निराश

होने की आवश्यकता कदापि नहीं है। मुझे तो इस प्रकार आशा, शोक व ममत्व से मुक्त रहकर बस प्रभु प्रेरित कार्य ही करने हैं।

श्लोक-33

सम्पूर्ण जीव प्रकृति के अनुसार ही कार्य करते हैं। ज्ञानी महापुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है- फिर इसमें हठबद्धता का क्या उपयोग? सभी कर्म प्रकृति के गुणों (सत्, रज व तम) से स्वतः उत्पन्न होते हैं। ज्ञानी व्यक्ति भी अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य करता है, क्योंकि कर्म की प्रवृत्ति को रोक पाना कठिन है।

सरल व्याख्या- शुद्ध मार्ग वही है जहाँ कर्म को निष्काम भाव, स्व-विवेक, और भगवद् समर्पण से जोड़ा जाए। अर्जुन को सिखाया गया कि स्वभाव को दबाना नहीं, बल्कि उसको सही दिशा में मोड़ना ही वास्तविक कर्मयोग है।

श्लोक-34

हर इन्द्रिय के लिए उसके विषयों में राग (आसक्ति) और द्वेष (घृणा) स्वाभाविक रूप से स्थित होते हैं, लेकिन मनुष्य को चाहिए कि वह इन राग-द्वेषों के वश में न हो, क्योंकि ये आत्मा की उन्नति में बाधक (शत्रु-स्वरूप) हैं।

सरल व्याख्या- इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर खींचती हैं। हर इन्द्रिय के प्रति मन में राग-द्वेष रहता है, लेकिन साधक को उनके प्रभाव में नहीं आना चाहिए। यही विवेकशील कर्मयोगी की पहचान है।

श्लोक-35

अपना धर्म, भले ही उसमें कुछ दोष क्यों न हों, दूसरे के धर्म से कहीं श्रेष्ठ है, चाहे वह कितने ही गुणों से युक्त क्यों न हो। स्वधर्म में मर जाना भी श्रेष्ठ है- परधर्म (दूसरे का धर्म) अपनाना भय उत्पन्न करने वाला है।

सरल व्याख्या- प्रकृति द्वारा सभी जीवों को उनके नियत धर्म प्रदान किये गए हैं, जैसे गाय का धर्म है दुग्ध देना, भेड़ का धर्म है ऊन देना, घोड़े का धर्म है यातायात में सहायक बनना। इसी प्रकार भगवान द्वारा सूर्य को ताप, चंद्र को शीतलता, पृथ्वी को अन्न, खनिज व अनेको जीवनोपयोगी सामग्री, वृक्ष को छाया व फलादि प्रदान करने का दायित्व प्रदान किया है जो उनका स्वधर्म है। यदि ये सभी अपने स्वधर्म का परित्याग करके दूसरे धर्म का अनुष्ठान करने लगेंगे तो इस सृष्टि में जीवन ही समाप्त हो जायेगा, जिस प्रकार ये लोग अपने धर्म का पालन बड़ी निष्ठा से करते है उसी प्रकार मनुष्य को भी अपने मानव धर्म का पालन बड़ी निष्ठा से करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वो अपने उत्तम चरित्र का निर्माण करे, क्योंकि चरित्रवान व्यक्ति ही सबसे पहले स्वयं अपना व अपने परिवार का तथा उसके बाद समाज का कल्याण करता है, समाज के कल्याण से देश का कल्याण होता है, देश के कल्याण से विश्व का कल्याण होता है और विश्व के कल्याण से संपूर्ण सृष्टि का कल्याण होता है। चरित्र निर्माण पर स्वामी विवेकानंद के विचार अत्यन्त विवेचनीय हैं। चरित्र निर्माण **(Character Building)** पर स्वामी विवेकानंद के विचार

उनके जीवन और उपदेशों का मूल आधार रहे हैं। उनके अनुसार, "शिक्षा वही है जो मनुष्य का निर्माण करे।"यहाँ चरित्र निर्माण पर आधारित स्वामी विवेकानंद की एक प्रसिद्ध प्रेरक घटना है जो उनके व्यक्तित्व की गहराई को दर्शाती है:

स्वामी विवेकानंद और चरित्र की दृढ़ता (एक प्रेरक प्रसंग)

एक बार स्वामी विवेकानंद अपने भ्रमण के दौरान एक नगर में ठहरे हुए थे। वहाँ के युवाओं को जब पता चला कि स्वामी जी आए हैं, तो वे उनसे मिलने पहुँचे। उनमें से एक युवक ने बड़ी विनम्रता से पूछा, "स्वामी जी, हम अपने चरित्र को कैसे ऊँचा उठाए? आज के समय में सही मार्ग पर चलना बहुत कठिन लगता है।"

स्वामी जी मुस्कुराए और उन्होंने एक दृष्टांत सुनाया:

"एक बार एक व्यक्ति ने एक बहुत सुंदर, सफेद और पारदर्शी पत्थर खरीदा। उसने उसे तराश कर एक मूर्ति बनाने की सोची। जैसे ही उसने छेनी से उस पर पहली चोट की, पत्थर से आवाज आई, 'मुझे मत मारो, बहुत दर्द हो रहा है!' मूर्तिकार रुक गया। उसने दया करके पत्थर को छोड़ दिया। वह पत्थर एक कोने में पड़ा रहा।"

"कुछ दिनों बाद, एक और मूर्तिकार आया। उसने उस पत्थर को उठाया और उसे तराशना शुरू किया। पत्थर ने फिर चिल्लाकर दर्द की शिकायत की, लेकिन मूर्तिकार नहीं रुका। उसने पत्थर को कठोर चोटें दीं, उसे घिसा और आखिरकार उसे एक बहुत ही सुंदर भगवान की मूर्ति में बदल दिया।"

"जब वह मूर्ति मंदिर में स्थापित हुई, तो वही लोग जो उस पत्थर को देख चुके थे, अब उसके सामने अपना सिर झुकाने लगे और उसकी पूजा करने लगे। तब वह पत्थर, जो अब मूर्ति बन चुका था, मन ही मन मुस्कराया और समझ गया कि यदि वह पहले मूर्तिकार के पास थोड़ा और कष्ट सहन कर लेता, तो वह बहुत पहले ही पूजनीय बन गया होता।"

स्वामी विवेकानंद ने संदेश दिया:

"जीवन में कठिनाइयाँ, चुनौतियाँ और संघर्ष, मूर्तिकार की उस छेनी और हथौड़े की तरह हैं। जो व्यक्ति अपने चरित्र निर्माण के दौरान इन चुनौतियों से डरकर भागता है, वह साधारण ही रह जाता है। लेकिन जो व्यक्ति संघर्षों का सामना साहस के साथ करता है, वह धीरे-धीरे एक महान और तेजस्वी चरित्र के रूप में उभरता है।"

चरित्र निर्माण पर उनके प्रमुख सूत्र:

1. उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्ति तक मत रुको: यह मंत्र केवल सफलता के लिए नहीं, बल्कि चरित्र को अनुशासित करने के लिए भी है।
2. पवित्रता, धैर्य और दृढ़ता: स्वामी जी का मानना था कि इन तीन गुणों के बिना कोई भी महान नहीं बन सकता।

3. स्वयं पर विश्वास: "खुद पर विश्वास करना ही भगवान पर विश्वास करना है।" यदि आप खुद को कमजोर मानेंगे, तो आप कभी चरित्रवान नहीं बन पाएंगे।
4. सेवा ही धर्म है: उन्होंने कहा था कि दूसरों की सेवा करना ही चरित्र को शुद्ध करने का सबसे सरल माध्यम है।

स्वामी विवेकानंद के लिए 'धर्म' कोई रस्म नहीं थी, बल्कि मनुष्य का निर्माण था। वे हमेशा युवाओं को एक ऐसा इंसान बनने की प्रेरणा देते थे जिसका मन, वचन और कर्म एक समान हो।

श्लोक-36

अर्जुन पूछते हैं- हे कृष्ण! यह मनुष्य किसके द्वारा प्रेरित होकर अनिच्छा के बावजूद भी पाप करता है, मानो बलपूर्वक उसे कोई करवाता हो?

श्लोक-37

श्रीकृष्ण बोले- यह कामना (वासना) और क्रोध ही है, जो रजोगुण से उत्पन्न होते हैं, ये ही महापापी और अत्यंत भयानक शत्रु हैं- इन्हें ही इस संसार में अपना शत्रु जानो।

श्लोक-38

जिस प्रकार अग्नि धुएँ से ढक जाती है, दर्पण धूल से ढक जाता है, गर्भ आवरण से ढका रहता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी काम (वासना) से ढकी रहती है।

श्लोक-39

हे अर्जुन! यह कामना रूपी अग्नि जिसकी तृप्ति कभी नहीं होती, यह ज्ञानियों के ज्ञान को भी ढक देती है। यह मनुष्य का सदा का शत्रु है।

श्लोक-40

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि- ये सब काम का आधार (आश्रय) हैं। इनके द्वारा यह काम, जीव के ज्ञान को ढक्कर उसे मोह में डाल देता है।

श्लोक-41

इसलिए हे अर्जुन! तुम पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान के नाशक इस पाप रूप काम का अवश्य ही परित्याग करो।

सरल व्याख्या- यहाँ ज्ञान और विज्ञान के बीच का भेद समझना आवश्यक है। किसी भी विषय के बारे में जानकारी ज्ञान कहलाती है और जिस ज्ञान को कसौटी पर कस कर उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है वह विज्ञान कहलाता है जैसे- दूध में घी होता है, यह जानकारी ज्ञान है और दूध की क्रीम निकलकर उससे घी का निर्माण करने की विधि विज्ञान कहलायेगी।

श्लोक-42-43

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से श्रेष्ठ कहते हैं, इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, मन से भी बुद्धि श्रेष्ठ है, किन्तु बुद्धि से भी जो श्रेष्ठ है, वही आत्मा है। इस प्रकार बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और आत्मा के द्वारा मन को वश में करके तू इस कामरूप दुर्जय शत्रु का त्याग कर दे।

सरल व्याख्या- ''मनुष्य का शरीर रथ है''- यह उपमा भारतीय दर्शन में आत्मा, शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के परस्पर संबंध को समझाने के लिए दी गई है। इसका मूल स्रोत कठोपनिषद् है, जहाँ आत्मा और शरीर के संबंध को रथ और रथी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।आत्मा रथी (यात्री) है। शरीर रथ है। बुद्धि सारथी (रथ का चालक) है। मन लगाम है। इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इन्द्रियाँ विषयों की ओर आकर्षित होती हैं, और मन अर्थात् लगाम के माध्यम से बुद्धि अर्थात् सारथी उन्हें नियंत्रित करती है। यदि आत्मा जागरूक होकर बुद्धि को सही दिशा में निर्देशित करे, तो रथ अर्थात् शरीर भी सही मार्ग पर चलता है।



अध्याय-4

श्लोक-1

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- हे अर्जुन! मैंने इस अविनाशी योग (कर्मयोग) को पहले सूर्य देव (विवस्वान) को कहा था। सूर्य देव ने इसे अपने पुत्र मनु को बताया और मनु ने इसे आगे अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान बताते हैं कि यह योग अर्थात् कर्म करते हुए ईश्वर में स्थित रहना, बहुत प्राचीन है, जिसका प्रचार उन्होंने स्वयं किया। इसका परंपरागत संचार सूर्य से मनु, मनु से इक्ष्वाकु और फिर राजाओं व संतों तक होता आया। इसका अर्थ है कि यह ज्ञान केवल युद्धभूमि में अर्जुन को नहीं दिया जा रहा, बल्कि आदि काल से मानव कल्याण के लिए चला आ रहा है।

श्लोक-2

इस प्रकार परंपरा से प्राप्त होकर, इस योग को राजर्षियों ने जाना, परन्तु, हे परंतप! समय के साथ यह योग इस पृथ्वीलोक में नष्ट (लुप्तप्राय) हो गया।

सरल व्याख्या- पहले के राजा ऋषि भी थे इसलिये वे राजर्षि कहलाये, जिन्हे वेद, मंत्र, शास्त्र आदि का पूर्ण ज्ञान तो था ही परन्तु वे भौतिक शासन के साथ-साथ आत्मिक शासन अर्थात् धार्मिक मार्ग का पालन भी करते थे। समय के साथ लोगों में भोग-विलास, स्वार्थ और अधर्म बढ़ा, जिससे यह योग-विज्ञान लुप्त हो गया। इसका अर्थ है कि धर्म और कर्मयोग को बनाए रखने के लिए निरन्तर प्रचार-प्रसार और अभ्यास आवश्यक है, नहीं तो यह लुप्त हो जाता है।

श्लोक-3

वही पुरातन योग आज मैंने तुम्हें कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त भी हो और मेरे सखा भी हो। यह उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं- हे अर्जुन! मैंने तुम्हें यह ज्ञान इसलिए दिया, क्योंकि तुम न केवल मेरे सखा हो, बल्कि मेरे सच्चे भक्त भी हो। सच्चा भक्त और मित्र ही इस उत्तम रहस्य को समझ सकता है, क्योंकि इसमें केवल तर्क नहीं, बल्कि श्रद्धा और आत्मसमर्पण भी आवश्यक है। कर्म करते हुए भी निष्काम रहना और परमात्मा में स्थित रहना ही सच्चा योग है।

श्लोक-4

अर्जुन बोले- आपका जन्म तो अभी का है और सूर्य (विवस्वान) का जन्म तो बहुत पहले हो चुका है। फिर मैं यह कैसे समझूँ कि आपने आदिकाल में सूर्य को यह योग बताया था?

सरल व्याख्या- अर्जुन को यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि श्रीकृष्ण कहते हैं- "मैंने यह योग पहले सूर्य को कहा था"। अर्जुन ने सोचा- श्रीकृष्ण तो अभी प्रकट हुए हैं और सूर्य का जन्म तो बहुत पहले हुआ। तब यह कैसे सम्भव है कि श्रीभगवान ने पहले यह योग सूर्य को उपदेश किया हो? यह प्रश्न केवल आश्चर्यवश था, संदेहवश नहीं। अर्जुन को भगवान की महिमा का अनुभव तो था, परन्तु भगवान का जन्मरहित और सर्वकालीन स्वरूप वे अभी पूर्ण रूप से नहीं जानते थे। अतः वे जिज्ञासा से पूछते हैं- "हे माधव! यह मैं कैसे जानूँ कि आपने आदिकाल में सूर्य को यह ज्ञान दिया था"?

श्लोक-5

हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म बीत चुके हैं। उन सबको मैं भली-भाँति जानता हूँ, परन्तु तुम नहीं जानते, हे शत्रुओं का दमन करने वाले!

सरल व्याख्या- श्रीकृष्ण यहाँ यह स्पष्ट कर रहे हैं कि वे सामान्य जीव की तरह नहीं हैं। वे तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और अनादि हैं। उनका जन्म लेना कोई बंधन नहीं, बल्कि लोक-कल्याण के लिए स्वेच्छा से है। वे सभी जन्मों को जानते हैं क्योंकि उनकी स्मृति कभी नष्ट नहीं होती, जबकि जीव अनादिकाल से अनगिनत जन्म लेकर भी अपनी स्मृति खो देता है। अर्जुन के भी अनेकों जन्म हुए हैं, परन्तु वे सब भूल गए हैं, क्योंकि जीव की स्मृति सीमित है और शरीर बदलते ही पूर्वजन्म की स्मृतियाँ लुप्त हो जाती हैं। यह भी इस बात का संकेत है कि श्रीभगवान और जीव में गुण, सामथर्य और ज्ञान में मूलभूत भिन्नता है।

श्लोक-6

मैं अजन्मा, अविनाशी स्वरुप होते हुए भी और प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि मेरा जन्म साधारण प्राणियों की भाँति नहीं होता है। मैं अविनाशी और अजन्मा भी हूँ। मैं समस्त प्राणियों का ईश्वर हूँ इसलिए मेरा जन्म प्राकृत मनुष्यों के समान नहीं होता है बल्कि मैं प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया के द्वारा प्रकट होता हूँ। मूल प्रकृति संसार को उत्पन्न करने वाली है और जबकि योगमाया के आदेश पर श्रीभगवान स्वयं अवतरित होते हैं। यही दोनों का भेद है, साधारण जीव तो त्रिगुणात्मक प्रकृति के वश में होकर अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं और सुख-दुःख भोगते हैं, किन्तु मेरा जन्म इस प्रकार नहीं होता, मैं जन्म तो धारण कर लेता हूँ परन्तु इससे मेरा मूल स्वरुप कभी भंग नहीं होता है, सत्य तो यह है कि मेरा मूल स्वरुप निराकार, अविनाशी, सर्वव्यापी, नित्य, अचल (स्थिर) रहने वाला और सनातन है, किन्तु फिर भी मैंने स्वयं को सम्पूर्ण जगत के रूप में भी फैला रखा है, यह सम्पूर्ण जगत मुझसे ही बना है और मैंने ही स्वयं को इतने विविध रूपों में व्यक्त कर रखा है कि जीव अज्ञानतावश उसमे स्वयं के अहंकार का आरोप कर लेता है। यही भ्रम उन्हें कर्ता बनाकर उन्हें संसार के सुख-दुःख में नचाता रहता है। सत्य तो यह है कि मैं सर्वव्याप्त होने के बाद भी साधारण मनुष्यों के अनुभव में नहीं आ पाता हूँ। मैं भी अपनी

योगमाया से कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संसार में स्वयं को अवतरित (प्रकट) करता हूँ, मेरा जन्म स्वतंत्र और दिव्य होता है, जीवों की भाँति कर्मवश नहीं होता।

श्लोक 7-8

हे भारत! जब-जब धर्म की ग्लानि (हानि) होती है और अधर्म बढ़ता है, तब-तब मैं अर्थात् भगवान स्वयं अवतरित होता हूँ। साधुजनों की रक्षा करने, दुष्टों का नाश करने और धर्म की पुनः स्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।

सरल व्याख्या- जब संसार में सत्य, न्याय, करुणा, ईमानदारी जैसे धर्म के मूल तत्व क्षीण होने लगते हैं, और इसके विपरीत हिंसा, अन्याय, लोभ, कपट जैसे अधर्म का जोर बढ़ जाता है, तब भगवान अपनी शक्ति से प्रकट होकर धर्म की रक्षा करते हैं। भगवान का यह अवतार लेना उनकी लीला है- यह उनके लिए बाध्यता नहीं, बल्कि करुणा से प्रेरित एक कार्य है।

भगवान का अवतार तीन मुख्य उद्देश्यों के लिए होता है-

1. **साधुजन की रक्षा-** जो लोग भगवान के भक्त, सत्यप्रिय और धर्मनिष्ठ होते हैं, उन्हें अधर्म के प्रभाव से बचाना।
2. **दुष्टों का विनाश-** जो लोग अत्याचार, अन्याय और अधर्म को फैलाते हैं, उनके अहंकार और शक्ति का अंत करना।
3. **धर्म की स्थापना-** धर्म के सिद्धांतों को पुनः स्थापित करना ताकि समाज में शांति, सद्भाव और नैतिकता बनी रहे।भगवान का यह कार्य केवल हिंसा से नहीं होता, बल्कि शिक्षा, प्रेरणा, और दिव्य उदाहरण द्वारा भी होता है।

श्लोक-9

हे अर्जुन! मेरा जन्म और मेरे कर्म (लीलाएँ) दिव्य हैं, जो पुरुष इन्हें यथार्थ रूप से जान लेता है, वह शरीर छोड़ने के बाद पुनः जन्म नहीं लेता, बल्कि मेरे पास आ जाता है।

सरल व्याख्या- भगवान श्रीकृष्ण यहाँ यह बताते हैं कि उनका जन्म और कर्म साधारण जीवों के जैसे नहीं हैं। उनका जन्म माया के बंधन में नहीं, बल्कि अपनी इच्छा और लीला के लिए होता है। वे जब चाहें, जिस रूप में चाहें, अवतरित होते हैं और धर्म की रक्षा तथा अधर्म के नाश के लिए कार्य करते हैं। जो साधक यह समझ लेता है कि भगवान का अवतार केवल करुणा, धर्म स्थापना और भक्तों की रक्षा के लिए है, और उनका सब कुछ दिव्य है, वह मोह-माया से मुक्त हो जाता है।ऐसा ज्ञानी भक्त मृत्यु के बाद पुनर्जन्म के चक्र में नहीं पड़ता, बल्कि भगवान के धाम में पहुँचकर सदा के लिए परम शांति और आनंद पाता है। यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि जो पुरुष यह जान लेता है कि मैं ही सबका आदि हूँ। मैं सबकुछ शुरू होने के पहले भी था और सबकुछ खत्म होने के बाद भी रहूँगा। सब मुझमें है और मैं सबमें हूँ, जो कुछ भी तुम छू सकते हो, चख सकते हो, देख सकते हो या सुन सकते हो, वह सब मैं ही हूँ। ये नदियाँ, पहाड़, सूरज, चाँद सितारे, देवता, दैत्य और मनुष्य आदि सभी मैंने ही बनाए हैं। ये सब मुझसे ही बने हैं अर्थात् मैं इस सम्पूर्ण सृष्टि का निमित्त कारण भी हूँ और उपादान कारण भी मैं ही हूँ, जैसे कुम्हार घड़े का निमित्त कारण है और उसमे लगने वाली मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। यहाँ कुम्हार और मिट्टी दोनों अलग-अलग हैं किन्तु सृष्टि की रचना भी परमात्मा से ही हुई है और परमात्मा के द्वारा ही हुई है। मैं ही पेड़ बनकर छाया व फल देता हूँ और मनुष्य बनकर उसकी छाया में सोता हूँ और फल खाता हूँ।

मैं ही कभी बादल बनकर बरसता हूँ, कभी नदी बनकर सागर में मिल जाता हूँ और पुनः भाप में परिवर्तित होकर बादल बन जाता हूँ। मैं ही सूर्य बनकर सबको जीवन देता हूँ, मैं ही धरती बनकर माँ समान सबका पोषण करता हूँ, कभी मैं घर बनकर सबको आश्रय देता हूँ तो कभी वस्त्र बनकर सबका तन ढकता हूँ, कभी मैं भोजन बन सबकी भूख मिटाता हूँ, तो कभी पानी बन प्यास बुझाता हूँ। कभी मैं संगीत बन आनंद बिखेरता हूँ तो कभी मैं नृत्य बन नाचने लगता हूँ। कभी मैं मासूम बच्चे की मुस्कुराहट में होता हूँ, तो कभी माँ के दुलार में। कभी में सुबह के उजाले में होता हूँ तो कभी चिड़ियों की चेहचाहट में। कभी मैं खिलते फूल में होता हूँ तो कभी मैं उसकी खुशबु में। मैं सर्वव्यापी हूँ, सबमे रहता हूँ। सबमे मैं हूँ, मैं हूँ और मैं ही हूँ, जो मेरे इस अवतरण और लीलाओं के रहस्य को जान लेता है वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो मुझमे ही विलीन हो जाता है।

श्लोक-10

जो लोग राग (मोह), भय और क्रोध से मुक्त हो गए हैं, जो मुझमें लीन होकर मेरे शरणागत हो गए हैं, ऐसे अनेक भक्त ज्ञानरूपी तप के द्वारा शुद्ध होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।

सरल व्याख्या- किसी व्यक्ति, पदार्थ, पद आदि विषयो के प्रति जो आसक्ति का भाव होता है, वही राग कहलाता है। प्राप्त विषयों के स्वयं से दूर हो जाने या नाश हो जाने की आशंका से मन में जो घबराहट बनी रहती है उस विकार को भय कहते हैं। काम्य विषय की प्राप्ति में बाधा या काम्य विषय का नाश करने वाले व्यक्ति के प्रति जो विद्वेष या उत्तेजना का भाव उत्पन्न होता है उसे क्रोध कहते है, जो मेरे भक्त सदा मेरा ही ध्यान लगाए रहते हैं, जो सदा मुझ पर ही आश्रित रहते हैं। वे मेरी कृपा से राग, भय व क्रोध से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं, जब मेरे भक्त के अंतःकरण से 'नकली मैं' अर्थात् 'अहंकार' चला जाता है तो उस 'नकली मैं' की जगह पर परमात्मा रुपी 'असली मैं' आ जाता है, किन्तु ये परमात्मा रुपी 'असली मैं 'नकली मैं' की भाँति अभिमानी, स्वार्थी और सकुचित नहीं होता बल्कि प्रेम से परिपूर्ण, अव्यक्तिगत, अभिमान से मुक्त, सबका कल्याण भाव रखने वाला और परमानन्द के आकाश में विचरण करने वाला होता है। उसका भ्रमरूपी घटाकाश मुझ परमात्मा रुपी महाकाश में विलीन हो जाता है। मेरे और उसके बीच का पर्दा सदा के लिए हट जाता है। वह भी यह मानने लगता है कि परमात्मा उसके रोम-रोम में वास करते हैं। वही उसे चलाते, फिराते और सारे कर्म करवाते हैं। ऐसा भाव रखते-रखते उसके असली मैं का विस्तार सम्पूर्ण जगत तक फैल जाता है। वह हर जीव में मेरा अर्थात् अपना ही दर्शन करता है। उसका किसी भी प्राणी, किसी भी जीव से द्वेष नहीं रह जाता। उसके मन में जीव मात्र के लिए प्रेम रहता है। जब विरोध समाप्त हो जाता है तो सर्वत्र अपना ही स्वरुप दिखाई देता है, किन्तु इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए वैसे ही समर्पण की आवश्यकता होती है जैसा समर्पण आकाश से गिरती हुई एक बूंद सागर के लिए करती है। वह अपने बूंदरूप अस्तित्व को मिटाकर सागर के साथ एक रस हो जाती है। एक भक्त भी भगवान के प्रति समर्पित होकर अपने 'नकली मैं' को खोकर 'असली मैं' को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में भक्त और भगवान का ऐसा मेल हो जाता है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि भगवान भक्त के हृदय में विराज रहे हैं कि भक्त भगवान के हृदय में, इसी भाव को एक सुन्दर शायरी द्वारा भी कहा गया है-

जर्रे - जर्रे में उसी का नूर है, झाँक खुदमे वो न तुझसे दूर है।

इश्क है उससे तो सबसे इश्क कर, इश्क है उससे तो सबसे इश्क कर,

इस इबादत का यही दस्तूर है। इसमें, उसमे और उसमे है वही,

यार मेरा हर तरफ भरपूर है।

इसी भाव को रामचरित मानस में भी कहा गया है -

सोइ जानइ जेहि देहु जानइ, जानत तुम्ही तुम्हीं होइ जाइ।

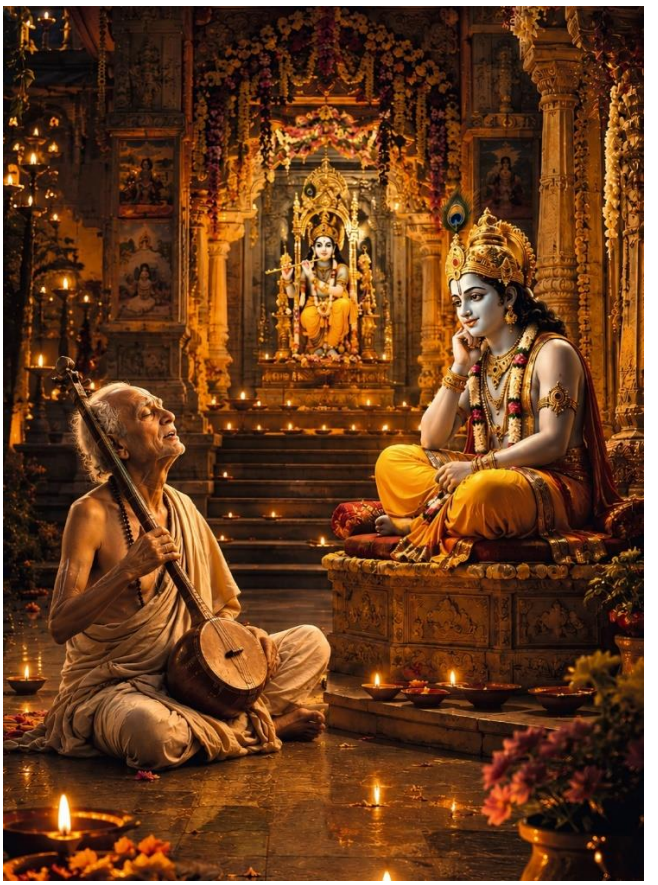
श्लोक-11

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ। मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।

सरल व्याख्या- भक्ति के नौ भाव बताए गए हैं, जिन्हें नवधा भक्ति कहते हैं। ये भगवान की उपासना और प्रेम प्रकट करने के नौ मुख्य तरीके हैं। इनका वर्णन श्रीरामचरितमानस, भागवत पुराण और भक्ति शास्त्रों में मिलता है।

1. श्रवण भक्ति-

भगवान की कथा, कीर्तन, महिमा और नाम का ध्यानपूर्वक सुनना, जैसे कोई प्रेम से रामकथा, कृष्णलीला या सत्संग सुने तो उसका मन भगवान में रम जाता है।



2. कीर्तन भक्ति-

भगवान के नाम, गुण और लीलाओं का गाना या वर्णन करना। भजन-कीर्तन, जप, या भगवान के गुण गाकर दूसरों में प्रेम जगाना।

3. स्मरण भक्ति-

हर समय भगवान को याद रखना और उनके स्वरूप, नाम, गुण और लीलाओं का चिंतन करना। दिनभर में बार-बार मन को भगवान की ओर मोड़ना।

4. पादसेवन भक्ति-

भगवान के चरणों की सेवा करना या उनके स्थान अर्थात् मन्दिर, तीर्थ की सेवा करना। मंदिर की सफाई, फूल चढ़ाना, चरण पखारना इत्यादि।

5. अर्चन भक्ति-

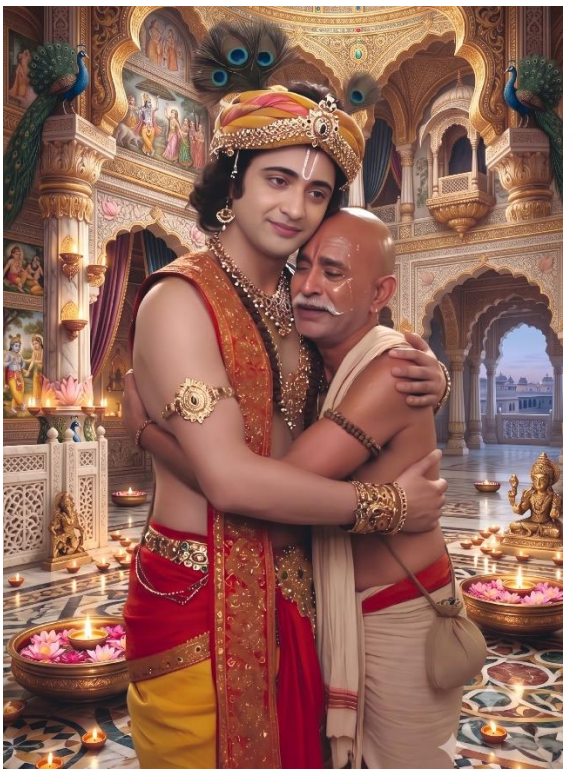
विधिपूर्वक भगवान की पूजा-अर्चना करना। फूल, दीप, धूप, नैवेद्य अर्पित करना और पूजा-पाठ करना।

6. वंदन भक्ति-

भगवान को प्रणाम करना और उनका आदर करना। नम्रता से झुकना, दण्डवत करना और मन से श्रद्धा दिखाना ।

7. दास्य भक्ति-

भगवान को अपना स्वामी मानकर उनकी सेवा करना, जैसे हनुमान जी ने श्रीराम की सेवा की, वैसे ही आज्ञा पालन करना।



8. सख्य भक्ति-

भगवान को अपना मित्र मानकर उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करना, जैसे अर्जुन ने कृष्ण को मित्र मानकर प्रेम और विश्वास रखा।

9. आत्मनिवेदन भक्ति-

अपना सब कुछ भगवान को समर्पित कर देना। 'हे प्रभु! मैं, मेरा शरीर, मन, धन- सब आपका है। यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि इस संसार में भक्त लोग मुझ परमात्मा को अपनी-अपनी रूचि, मान्यता व भावनानुसार पूजते हैं। मुझे सगुण-साकार मानकर राम, कृष्णा, राधा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी आदि रूपों में अपनी-अपनी आस्था के अनुसार पूजते है। हिन्दू अपनी आवश्यकता अनुसार मेरी भगवान के रूप में पूजा कर रहे हैं, तो मुसलमान अल्लाह के रूप में मेरी ही इबादत कर रहे हैं, सिक्ख मुझे वाहेगुरु स्वरुप पूज रहे हैं, तो ईसाई मुझसे गॉड के रूप में प्रार्थना कर रहे है। जिस प्रकार विविध नाम, रूप और आकार वाली नदियाँ सागर की ओर जाने वाले मार्ग का ही अनुसरण करती हैं। उसी प्रकार विविध संप्रदाय पंथ मुझ परमात्मा तक पहुंचने के मार्ग का ही अनुसरण करते है।

श्लोक-12

कर्मों की सिद्धि (फल) चाहने वाले मनुष्य देवताओं की उपासना किया करते हैं क्योंकि इस मनुष्य लोक में कर्मों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि जल्दी मिल जाती है।

सरल व्याख्या- मनुष्य मानते हैं कि किसी भी वस्तु या फल को प्राप्त करने के लिए कर्म करना जरूरी है। इस सोच के कारण वे देवताओं की उपासना करते हैं, क्योंकि देवता ऐसे माध्यम माने जाते हैं जिनसे

कर्मों का फल शीघ्र प्राप्त होता है, परन्तु सांसारिक वस्तुएँ अस्थाई एवं क्षणभंगुर होती हैं- इनका आकर्षण हमें वास्तविक सत्य से भटका देता है। भगवतप्राप्ति, अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति, असल सिद्धि है- जो कर्मयोग, ज्ञानयोग व भक्तियोग से जागृति होती है।

श्लोक-13

श्रीकृष्ण कहते हैं- मैंने चार वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनाए हैं, जो लोगों के गुण अर्थात् स्वभाव, संस्कार और कर्म के आधार पर विभाजित हैं।

सरल व्याख्या- हालाँकि मैं इन वर्णों की रचना करने वाला हूँ, फिर भी तू मुझे अकर्ता जान क्योंकि मैं व्यक्तिगत रूप से किसी कर्म में बंधा हुआ नहीं हूँ और मुझे अविनाशी जान।

सरल व्याख्या-

गुण और कर्म से विभाजन-यहाँ भगवान ने जाति या वर्ण का आधार जन्म को नहीं बताया, बल्कि मनुष्य के स्वभाव अर्थात् सत्त्व, रज व तम गुण और उसके कर्म (कर्त्तव्य) को बताया। सत्त्वगुण प्रधान लोग ज्ञान, शिक्षा, उपदेश देने का कार्य करते हैं इसलिए वे ब्राह्मण कहलाये। रजोगुण प्रधान लोग बल और साहस-शासन, रक्षा करने का कार्य करते हैं इसलिए वे क्षत्रिय कहलाये। रजोगुण के साथ तमोगुण प्रधान लोग व्यापार, कृषि आदि का कार्य करते हैं इसलिए वे वैश्य कहलाये। तमोगुण प्रधान लोग सेवा, श्रम आदि का कार्य करते हैं इसलिए वे शूद्र कहलाये।

यहाँ भगवान की भूमिका यह है कि वे इस व्यवस्था के कर्ता हैं, क्योंकि उन्होंने प्रकृति और गुणों की रचना की है, लेकिन वे स्वयं कर्म के बंधन में नहीं आते, क्योंकि उनका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ या फल-लालसा नहीं है। वे केवल नियम-व्यवस्था के नियन्ता हैं, उसमें फँसे हुए नहीं। यहाँ मुख्य संदेश यह है कि वर्ण व्यवस्था मूल रूप से योग्यता और कार्य पर आधारित थी, न कि जन्म पर, बाद में समाज में इसे जन्म-आधारित मान लिया गया, जो मूल गीता के सिद्धान्त के विपरीत है।

गीता में भगवान द्वारा कहे इस श्लोक से हमें जीवन-प्रेरणा मिलती है कि- काम को जाति से मत बाँधो, योग्यता से बाँधो। समाज में किसी का मूल्य उसके जन्म से नहीं बल्कि गुण और कर्म से होता है। अगर किसी में शिक्षा, ज्ञान और सत्यनिष्ठा है, तो वह व्यवहार में ब्राह्मण है, चाहे उसका जन्म किसी भी परिवार में हुआ हो। अपना स्वभाव जानो और उसी दिशा में कर्म करो। हर व्यक्ति के अन्दर अलग-अलग गुणों का मेल है। जीवन में सफलता तब मिलती है जब हम अपने प्राकृतिक गुणों के अनुसार काम करते हैं, न कि केवल दूसरों की नकल। कर्त्तव्य करो, बंधन से मुक्त रहो, जैसे भगवान सृष्टि के कर्ता हैं परन्तु वे कर्म में बँधे नहीं हैं, वैसे ही हमें भी काम करना है पर स्वार्थ और आसक्ति छोड़कर। इससे मन शांत और आत्मा स्वतंत्र रहती है। समाज में संतुलन बनाए रखो। हर वर्ग का अपना महत्व है, कोई भी छोटा-बड़ा नहीं, जब हर व्यक्ति अपना कर्तव्य ईमानदारी से करता है, तभी व्यवस्था चलती है।

श्लोक-14

मेरे ऊपर कर्मों का कोई असर नहीं होता, और न ही मुझे कर्मफल की कोई इच्छा है, जो व्यक्ति मुझे इस प्रकार जान लेता है, वह भी कर्मों से बँधता नहीं।

सरल व्याख्या- भगवान अनगिनत कार्य करते हैं, सृष्टि का संचालन करते हैं, लेकिन उन्हें किसी भी कर्म का बंधन नहीं होता, क्योंकि उनके मन में कोई स्वार्थ या फल की चाह नहीं है, जबकि मनुष्य कर्म करते समय फल की अपेक्षा रखता है- जैसे "मुझे यह मिलेगा" या "मेरा नाम होगा"- और यही अपेक्षा उसे कर्म-बन्धन में बाँध देती है। यदि हम भी भगवान की तरह निःस्वार्थ होकर, कर्तव्य-भाव से कर्म करें, तो कर्म के बंधन से मुक्त हो सकते हैं।

श्लोक-15

इस ज्ञान को समझकर, पहले के जो मोक्ष की इच्छा रखने वाले महापुरुष थे, उन्होंने भी निःस्वार्थ भाव से कर्म किए थे। इसलिए हे अर्जुन! तू भी वैसे ही अपने कर्त्तव्य-कर्म कर, जैसे प्राचीन श्रेष्ठ लोग करते आए हैं।

श्लोक-16

क्या कर्म है और क्या अकर्म है-इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान भी भ्रमित हो जाते हैं।इसलिए मैं तुझे कर्म का सही ज्ञान बताऊँगा, जिसे जानकर तू पाप (अशुभ) के बंधन से मुक्त हो जाएगा।

श्लोक-17

कर्म अर्थात् सही कार्य को जानना जरूरी है, विकर्म अर्थात् गलत कार्य को भी जानना जरूरी है, और अकर्म को भी समझना जरूरी है, क्योंकि कर्म के प्रभाव और परिणाम बहुत गूढ़ और समझने में कठिन है।

सरल व्याख्या- तीन प्रकार की क्रिया होती है- कर्म वह कार्य है जो धर्मानुसार किया जाय। विकर्म वह कार्य है जो नियमों और धर्म के विपरीत होता है, जो पाप और बंधन का कारण बनता हैं। अकर्म वह कार्य है जिसमें व्यक्ति स्वयं को कर्ता न मानकर प्रकृति को कर्ता मानता है और इस प्रकार वह अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए भी कर्म के बंधन से नहीं बंधता। भगवान कर्म को गूढ़ इसलिए बता रहे हैं क्योंकि कभी-कभी बाहरी रूप से अच्छा दिखने वाला काम भी पाप का कारण बन सकता है, जैसे अहंकार से किया दान और कभी-कभी कठोर दिखने वाला कार्य भी धर्म हो सकता है, जैसे अन्याय रोकने के लिए किया हुआ युद्ध।

श्लोक-18

जो व्यक्ति कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देख पाता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान है, वही योगयुक्त है और वास्तव में सम्पूर्ण कर्म करने वाला है।

सरल व्याख्या- जो व्यक्ति बुद्धिमान व योगयुक्त होता है वह स्वयं को कर्ता नहीं मानता इसलिए वह कर्म में भी अकर्म को देखता है और अकर्म में भी कर्म को देखता है अर्थात् वह कुछ न करके भी प्रकृति द्वारा प्रेरित कर्मों को करता रहता है।

श्लोक-19

जिसके सभी कार्य कामना और संकल्प (स्वार्थी इच्छाओं) से रहित होते हैं, और जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि में जल चुके हैं, उसे ज्ञानीजन वास्तव में पंडित कहते हैं। ऐसे व्यक्ति के काम का आधार लालच, अहंकार, दिखावा या निजी लाभ नहीं होता। उसका हर कार्य कर्तव्य-भाव और लोक-कल्याण के लिए होता है।

सरल व्याख्या- आत्म-ज्ञान प्राप्त व्यक्ति समझता है कि "मैं शाश्वत आत्मा हूँ, शरीर केवल साधन है"। यह ज्ञान उसके कर्मों के बंधन को जला देता है, यानी कर्म उसे बांधते नहीं। गीता में "पंडित" का मतलब केवल किताबों का विद्वान नहीं, बल्कि ऐसा ज्ञानी है जिसने अपने जीवन में सही दृष्टि और निःस्वार्थ भाव अपनाया है।

श्लोक-20

जो व्यक्ति कर्मफलों के प्रति आसक्ति छोड़ चुका है, सदा आत्म-संतुष्ट रहता है, किसी पर निर्भर नहीं होता- वह कर्म में पूरी तरह लगे रहने पर भी वास्तव में कुछ नहीं करता अर्थात् कर्म के बंधन में नहीं आता।

श्लोक-21

जो व्यक्ति इच्छारहित है, जिसने अपने मन और आत्मा को संयमित कर लिया है, और जिसने सभी संग्रह चाहे वह धन या सम्मान का हो छोड़ दिए हैं- वह केवल शरीर की आवश्यकताओं के लिए कर्म करता है और पाप में नहीं फँसता।

श्लोक-22

जो बिना माँग के, अपने भाग्य से प्राप्त हुए में संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुःख, लाभ-हानि जैसे द्वन्द्वों से ऊपर है, जिसमें किसी से ईर्ष्या नहीं है, और जो सफलता- असफलता में समान रहता है, वह कर्म करके भी बंधन में नहीं पड़ता।

श्लोक-23

जिस व्यक्ति ने आसक्ति छोड़ दी है, जो मुक्त है और जिसका मन ज्ञान में स्थित है, वह यज्ञभाव (निःस्वार्थ भाव) से कर्म करता है और उसके सभी कर्मरुपी बंधन पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं।

श्लोक-24

अर्पण, हवि, अग्नि, आहुति डालने वाला- ये सब ब्रह्म ही हैं। जो व्यक्ति ब्रह्म (सर्वव्यापी- परमात्मा) में कर्म को समर्पित करके स्थित रहता है, वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।यही पूर्ण ब्रह्म-दृष्टि है।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान यह दृष्टिकोण देते हैं कि जब साधक का मन एकत्व के ज्ञान में स्थिर हो जाता है, तब उसे हर चीज में ब्रह्म ही दिखता है। अर्पण करने वाला भी ब्रह्म, जिसको अर्पण हो रहा है

वह भी ब्रह्म, अर्पण की वस्तु भी ब्रह्म, और यज्ञ का उद्देश्य भी ब्रह्म। यही कर्म की एकता का सिद्धांत है कि इस भाव में कर्म करते समय "मैं कर रहा हूँ" की भावना नहीं रहती, केवल ईश्वर के लिए कार्य हो रहा है, ऐसा अनुभव होता है। इस दृष्टिकोण से कर्म करने वाला, अपने कर्म के माध्यम से भी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि उसका मन निरंतर ब्रह्म में लीन रहता है।

श्लोक-25

कुछ लोग देवताओं की पूजा में धन और सामग्री का यज्ञ करते हैं। कुछ लोग तप करके यज्ञ करते हैं। कुछ योग साधना द्वारा यज्ञ करते हैं। कुछ वेदों का अध्ययन कर ज्ञानार्जन को यज्ञ मानते हैं। ये सब साधक अपने-अपने मार्ग से साधना करते हैं, और सभी ने दृढ़ नियम होते हैं।

सरल व्याख्या- श्रीकृष्ण यहाँ विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन कर रहे हैं। द्रव्ययज्ञ वह यज्ञ है जिसमें साधक अपनी कमाई या सम्पत्ति का उपयोग धर्मकार्य और सेवा में करता है। तपोयज्ञ वह यज्ञ है जिसमें शारीरिक, मानसिक और इंद्रियों का संयम करके तप किया जाता है। योगयज्ञ वह यज्ञ है जिसमें मन को एकाग्र करके ध्यान और समाधि में स्थित होना होता है। ज्ञानयज्ञ वह यज्ञ है जिसमें वेद, शास्त्र और आध्यात्मिक ज्ञान का अध्ययन और मनन किया जाता है।

श्लोक-26

कुछ योगी अपने कान, आँख, नाक आदि इन्द्रियों को संयम (नियंत्रण) की अग्नि में अर्पित करते हैं और कुछ योगी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध जैसे इन्द्रिय-विषयों को इन्द्रियों की अग्नि में अर्पित करते हैं।

सरल व्याख्या- यह श्लोक हमें सिखाता है कि आध्यात्मिक मार्ग में केवल बाहरी यज्ञ ही नहीं, बल्कि आंतरिक यज्ञ भी महत्वपूर्ण है। अपने मन और इन्द्रियों को नियंत्रित करना तथा विषयों में आसक्ति का त्याग करना, दोनों ही मोक्ष के मार्ग में सहायक हैं।

श्लोक-27

किसी योगी द्वारा इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रियों में अर्पण करना, किसी द्वारा इन्द्रियों को अग्नि में अर्थात् ज्ञानाग्नि में अर्पण करना, और किसी द्वारा प्राण को प्राण की अग्नि में अर्पण करना- ये सब यज्ञ रूप हैं।

सरल व्याख्या- कुछ साधक अपनी इन्द्रियों को वश में करके विषय भोगों को त्याग देते हैं और उन्हें इन्द्रिय संयम के यज्ञ में अर्पण करते हैं। कुछ लोग इन्द्रियों को पूर्ण नियंत्रण में रखकर आत्म-ज्ञान की अग्नि में अर्पित कर देते हैं, यानी उनका प्रयोग केवल आत्म-साक्षात्कार के लिए करते हैं। कुछ लोग अपने प्राण (श्वास) को प्राणायाम जैसे साधनों से नियंत्रित करके, प्राण को प्राण की अग्नि में अर्पण करते हैं।

श्लोक-28

कुछ लोग धन और सामग्री का उपयोग करके द्रव्य-यज्ञ करते हैं, कुछ तपस्या को ही यज्ञ मानते हैं, कुछ योगाभ्यास को और कुछ लोग स्वाध्याय (शास्त्र-अध्ययन) तथा ज्ञान-यज्ञ करते हैं। ये सभी दृढ़ व्रत वाले साधक हैं।

श्लोक 29-30

कुछ योगी अपान वायु को प्राण वायु में अर्पण करते हैं और कुछ प्राण वायु को अपान वायु में अर्पित करते हैं। कुछ योगी प्राण और अपान की गति को रोककर केवल प्राणायाम में लगे रहते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान श्रीकृष्ण प्राणायाम की महिमा बताते हैं। प्राण वायु अर्थात्- साँस का भीतर जाना और अपान वायु अर्थात्- साँस का बाहर आना। योगी साधक इन दोनों के प्रवाह को नियंत्रित करके शरीर और मन को स्थिर करते हैं, जब साधक प्राण और अपान की गति रोक देता है तो मन एकाग्र होकर आत्मा के अनुभव में स्थिर हो जाता है। यह साधना शरीर को शुद्ध करती है, मन को शांत करती है और आध्यात्मिक ऊर्जा को जागृत करती है, जो साधक मुझे हर जगह देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिए मैं कभी ओझल नहीं होता और वह साधक भी मुझसे कभी अलग नहीं होता। इस स्थिति में 'मैं' और 'तुम' का भेद मिट जाता है- केवल 'एक' का अनुभव शेष रह जाता है जो परम अद्वैत का भाव है।

श्लोक-31

हे अर्जुन? यह जो लोग यज्ञ का प्रसाद (निष्काम भाव से किया कर्म) ग्रहण करते हैं, वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो यज्ञ नहीं करते उन्हें इस लोक में भी सुख-शांति नहीं मिलती, तो परलोक में सुख कैसे मिलेगा?

श्लोक-32

इस प्रकार और भी बहुत तरह के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गए हैं। उन सब यज्ञों को तू कर्म-जन्य जान। इस प्रकार जानकर यज्ञ करने से तू कर्म-बंधन से मुक्त हो जाएगा।

श्लोक-33

हे परन्तप! भौतिक वस्तुओं अर्थात् धन सम्पत्ति से किये जाने वाले यज्ञ (अनुष्ठान) की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ, सम्पूर्ण कर्म अपनी समग्रता में ज्ञान में ही जाकर समाप्त होते है।

श्लोक-34

उस ज्ञान को तू गुरु के सामने जाकर विनम्रता से प्रणाम करके, ईमानदारी से प्रश्न पूछकर और सेवा करके जान। वे महापुरुष जो सत्य को देख चुके हैं, तुझे वह ज्ञान सिखाएँगे।

श्लोक-35

हे पाण्डव! उस ज्ञान को प्राप्त करके तुम फिर कभी इस प्रकार मोह में नहीं पड़ोगे, और उस ज्ञान के द्वारा तुम सभी प्राणियों को सम्पूर्ण रूप से अपने में और फिर मुझमें देख सकोगे।

सरल व्याख्या- जब जीव को यह दृष्टि मिलती है कि "सब मैं हूँ, और मैं भगवान में हूँ", तब द्वेष, ईर्ष्या, भेद-भाव, मोह-सब समाप्त हो जाते हैं। यह स्थिति ही पूर्ण योग और मुक्ति का द्वार है।

श्लोक-36

यदि तुम संसार के सभी पापियों में सबसे बड़े पापी भी हो, तो भी ज्ञान रूपी नाव के सहारे तुम पाप रूपी समुद्र को पार कर जाओगे।

सरल व्याख्या- श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन को यह आश्वासन दे रहे हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान की शक्ति इतनी प्रबल है कि वह किसी भी पाप या बुराई को नष्ट कर देती है, जैसे नाव समुद्र के पार ले जाती है, वैसे ही सच्चा ज्ञान जीव को पापों से मुक्त करके मुक्ति के तट पर पहुँचा देता है। यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ केवल जानकारी भर नहीं, बल्कि ब्रह्मज्ञान है। अपने आत्म स्वरूप, परमात्मा के स्वरूप और उनके सम्बन्ध की अनुभूति है जब यह ज्ञान हृदय में दृढ़ हो जाता है, तब अज्ञानजन्य सारे पाप और बंधन समाप्त हो जाते हैं।

श्लोक-37

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों को पूरी तरह जला कर राख कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है।

श्लोक-38

भगवान कृष्ण कहते हैं कि इस संसार में ज्ञान से बढ़कर पवित्र करने वाली कोई वस्तु नहीं है, जब कोई व्यक्ति योग अर्थात् आत्म-संयम, साधना, भक्ति और मन की एकाग्रता में सिद्ध हो जाता है, तो उचित समय पर यह ज्ञान स्वयं उसके हृदय में प्रकट हो जाता है।

श्लोक-39

जो व्यक्ति श्रद्धावान है, ज्ञान प्राप्ति में तत्पर है और जिसकी इन्द्रियाँ संयमित हैं, वह ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त होने पर वह शीघ्र ही परम शांति को प्राप्त हो जाता है।

श्लोक-40

जो मनुष्य अज्ञानी है, श्रद्धा नहीं रखता और सदा संदेह में रहता है, वह नष्ट हो जाता है। संशययुक्त व्यक्ति को न इस लोक में सुख मिलता है, न परलोक में, और न ही उसे कोई आनंद प्राप्त होता है।

श्लोक-41

हे धनजन्य! जब कोई व्यक्ति कर्म करता है लेकिन उसका मन आसक्ति और फल की इच्छा से मुक्त होता है, और वह स्वयं के सत्य स्वरूप को जान चुका होता है, तब कर्म उसे संसार में नहीं बाँधते।

श्लोक-42

इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन! हृदय में स्थित इस अज्ञान से उत्पन्न अपने संशय को ज्ञानरूप तलवार से छेदन करके योग (समता) में स्थित हो जा और युद्ध के लिए खड़ा हो जा।



अध्याय-5

श्लोक-1

अर्जुन ने कहा हे कृष्ण! आप एक बार तो मुझे कर्मों का संन्यास अर्थात् कर्म छोड़ने की प्रशंसा करते हैं और दूसरी बार कर्मयोग की भी प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में जो एक निश्चित रूप से श्रेष्ठ है, वह मुझे स्पष्ट रूप से बताइए।

सरल व्याख्या- भगवान ने पहले ही अध्याय 3 और 4 में दोनों की महिमा बताई थी-

पहला संन्यास मार्ग- जिसमें बाह्य कर्म छोड़कर साधक केवल ज्ञान-ध्यान, समाधि में स्थित रहता है।

दूसरा कर्मयोग मार्ग- जिसमें साधक अपने सभी कर्मों को भगवान में अर्पण कर, आसक्ति रहित होकर करता है।

अर्जुन सोचता है- 'दोनों विपरीत तो हैं, एक में कर्म छोड़ना, दूसरे में कर्म करना।' इसलिए वह स्पष्ट और सुनिश्चित उत्तर चाहता है।

श्लोक-2

श्रीभगवान बोले- संन्यास और कर्मयोग, दोनों ही परम कल्याण देने वाले हैं, परन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है।

यहाँ भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के इस भ्रम का निवारण करते हैं-

सरल व्याख्या- संन्यासयोग और कर्मयोग-दोनों ही आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जाते हैं, दोनों ही कल्याणकारी हैं, लेकिन सामान्य साधक के लिए कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें मन अधिक स्थिर रहता है, अहंकार और आलस्य की सम्भावना कम होती है, और समाज में भी योगदान बना रहता है।

श्लोक-3

हे महाबाहो अर्जुन! जो न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की आकांक्षा करता है, उसे सदा संन्यासी जानो। ऐसा निद्वन्द्वों अर्थात् गर्मी-सर्दी, सुख-दुःख जैसे द्वंद्वों से मुक्त पुरुष सहज ही संसार के बंधनों से छूट जाता है।

श्लोक-4

मूर्ख लोग ही सन्यासयोग (ज्ञानयोग) और निष्काम कर्मयोग को अलग-अलग कहते हैं, परंतु पंडित ऐसा नहीं कहते। क्योंकि इनमें से किसी एक मार्ग में भी जो ठीक से स्थित होता है, वह दोनों का फल अर्थात् परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।भगवान के कहने का तात्पर्य हैं-

सरल व्याख्या- वास्तव में ये दोनों मार्ग अंत में एक ही लक्ष्य पर पहुँचते हैं जो आत्मसाक्षात्कार और मोक्ष का गंतव्य है। फर्क केवल अभ्यास की प्रारंभिक विधि में है, एक में कर्म कम होते हैं, दूसरे में कर्म जारी रहते हैं, जो किसी एक मार्ग को पूरे मन, श्रद्धा और नियम से अपनाता है, उसे अंततः दूसरे मार्ग का भी लाभ मिल जाता है।

मान लीजिए दो श्रद्धालु अलग-अलग रास्तों से एक ही पर्वत-शिखर पर स्थित मंदिर के लिए चढ़ रहे हैं, एक सीढ़ियों वाले रास्ते से, उसे कर्मयोग का मार्ग माने, दूसरा सीधे चट्टान चढ़ने से, उसे ज्ञानयोग का मार्ग माने। नीचे से देखने वालों को लगेगा कि दोनों अलग मंजिल पर जा रहे हैं, लेकिन जो ऊपर से देखता है अर्थात् जो तत्त्वज्ञानी है, उसे पता है कि दोनों एक ही मंदिर में पहुँचेंगे।

श्लोक-5

जो मोक्ष स्थान सांख्ययोगियों अर्थात् ज्ञानयोगियों को प्राप्त होता है, वही स्थान कर्मयोगियों को भी प्राप्त होता है। इसलिए जो व्यक्ति सांख्य और योग को एक ही समझता है, वही वास्तव में सही देखता है।

श्लोक-6

हे महाबाहो! केवल संन्यास (कर्म छोड़ देना) कर्मयोग के बिना बहुत कठिन है।परंतु योगयुक्त (कर्मयोग) में स्थित मुनि शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

सरल व्याख्या- भगवान यहाँ व्यावहारिक सच्चाई बताते हैं कि केवल संन्यास अर्थात् कर्म का त्याग कर देना परंतु मन को भगवान में स्थिर न करना, यह मार्ग बहुत कठिन है, क्योंकि मन खाली बैठने पर भटकने लगता है, पुरानी वासनाएँ सताने लगती हैं, और साधक निराश हो सकता है। इसलिए योगयुक्त (कर्म करते हुए) भी भगवान में मन लगाने वाला साधक, बहुत जल्दी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

श्लोक-7

योग में स्थित, पूर्ण रूप से शुद्ध चित्त वाला, जिसने मन को वश में कर लिया है और इंद्रियों को जीता है, जो सब प्राणियों के आत्मा में अपनी आत्मा को देखता है, वह कर्म करता हुआ भी पाप से नहीं लिप्त होता।

सरल व्याख्या- एक सच्चा चिकित्सक रोगी का इलाज करते समय यह नहीं सोचता कि रोगी अमीर है या गरीब, परिचित है या अनजान। वह सभी में स्वयं को देखता हुआ, एक-सा मन लगाकर सेवा करता है। ठीक वैसे ही कर्मयोगी भी हर प्राणी में भगवान का ही स्वरूप देखकर कार्य करता है, इसलिए कर्म उसे बाँधते नहीं।

श्लोक 8-9

तत्त्वज्ञानी योगी यह जानकर कि 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ,' देखते, सुनते, छूते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोड़ते, ग्रहण करते, आँखें खोलते और बंद करते हुए भी मन में यह निश्चय करता है कि 'इंद्रियाँ ही इंद्रियों के विषयों में लगी हैं'- मैं नहीं।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान कर्मयोगी की अंतर की दृष्टि बताते हैं।

1. उसमे मैं कुछ नहीं कर रहा का भाव बना रहता है। कर्मयोगी समझता है- शरीर के अंग, इंद्रियाँ, प्रकृति अपने-अपने कार्य कर रही हैं। मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा मात्र हूँ न करता हूँ, न करवाता हूँ।
2. कर्मयोगी की दैनिक जीवन में भी यही दृष्टि बनी रहती है कि आँख देख रही है, कान सुन रहे हैं, त्वचा छू रही है, जीभ चख रही है, हाथ काम कर रहे हैं, पैर चल रहे हैं, लेकिन इन सब में कर्मयोगी 'मैं' का अहंकार नहीं जोड़ता।
3. क्यों यह भाव पवित्र है? जब 'मैं कर रहा हूँ' का अहंकार हट जाता है, तो कर्म का बंधन भी मिट जाता है। कर्म का फल तब आत्मा को नहीं बाँधता, क्योंकि आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है।इसे साधारण जीवन के उदाहरण से समझे-मान लीजिए आप एक ड्राइवर को गाड़ी चलाते देख रहे हैं। गाड़ी चल रही है, गियर बदल रहा है, हॉर्न बज रहा है, लेकिन आप साक्षी होकर पीछे बैठे हैं, गाड़ी आप नहीं चला रहे। इसी तरह कर्मयोगी भी दृष्टासाक्षी भाव में जीवन के सभी कर्मों को होते हुए देखता है, लेकिन 'मैं कर रहा हूँ' की भावना नहीं रखता।

श्लोक-10

जो मनुष्य अपने सभी कर्म भगवान (ब्रह्म) में अर्पण करके, आसक्ति का त्याग करके कर्म करता है। वह पाप से उसी प्रकार अछूता रहता है, जैसे कमल का पत्ता पानी से अछूता रहता है।

श्लोक-11

योगी लोग शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इंद्रियों से भी कर्म करते हैं- परंतु आसक्ति का त्याग करके, केवल आत्मा की शुद्धि के लिए।

कर्म के चार माध्यम हैं -

1. शरीर से कर्म करना जैसे सेवा, परिश्रम, पूजा की क्रियाएँ।
2. मन से कर्म करना जैसे मन से प्रेम, ध्यान, प्रार्थना, स्मरण आदि ।
3. बुद्धि से कर्म करना जैसे विवेक से निर्णय लेना, धर्म को समझकर पालन करना।
4. इंद्रियों से भी कर्म होना जैसे सुनना, देखना, चखना आदि ।

कर्मयोगी फल की आसक्ति का त्याग करके कर्म करते हैं जिससे उनकी आत्मा पूर्णतया शुद्ध होती जाती है।

श्लोक-12 .

योगी व्यक्ति कर्मफल का त्याग करके स्थायी शांति को प्राप्त करता है, परन्तु अयोगी (असंयमी व्यक्ति), कामनाओं के वश होकर फल में आसक्त रहता है और बंधन में बँध जाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ योगी और अयोगी के मन की स्थिति बताई है भगवान ने-

1. योगी का मन कर्म करते हुए भी शांत रहता है क्योंकि उसने कर्मफल की आसक्ति का त्याग कर दिया है। कर्म का परिणाम चाहे जैसा हो, उसे भगवान की इच्छा मानकर स्वीकार करना यही योगी की मन स्थिति होती है, जब व्यक्ति अपने काम के नतीजे को मेरा नहीं मानता, तब उसका मन हिलता नहीं बल्कि सफलता और असफलता में समान रहता है।
2. वही दूसरी ओर अयोगी का मन बंधन में बंधा रहता है। वह व्यक्ति फल पाने की तीव्र इच्छा से कर्म करता है, वह हमेशा चिंता, डर और आशा में उलझा रहता है, जब फल अच्छा मिलता है, तो वह गर्व करता है- जब बुरा मिलता है, तो दुःखी हो जाता है। यह उतार-चढ़ाव ही संसार का बंधन है।

श्लोक-13

आत्म-नियंत्रित योगी मन से सब कर्मों का त्याग करके नौ द्वारों वाले इस शरीर-नगर में सुखपूर्वक रहता है, न वह स्वयं कुछ करता है और न दूसरों से कुछ करवाता है।

सरल व्याख्या- यह शरीर एक नगर की तरह है, जिसमें नौ द्वार हैंः- दो आँखें, दो कान, दो नथुने, एक मुँह, मलमार्ग और मूत्रमार्ग। जैसे कोई राजा अपने नगर में रहते हुए भी स्वयं काम नहीं करता, बल्कि मंत्री और सेवक करते हैं, वैसे ही आत्मज्ञानी योगी शरीर में रहते हुए भी स्वयं कुछ नहीं करता, सब प्रकृति के गुण अर्थात् इंद्रियाँ, मन व शरीर करते हैं। यह त्याग बाहरी कर्म छोड़ना नहीं है, बल्कि मन में कर्तापन और स्वामित्व का त्याग है। वह जानता है कि मैं आत्मा हूँ- अकर्ता, असंग, साक्षी। इसलिए भले ही शरीर कर्म करे, पर वह अपने को कर्म करने वाला नहीं मानता। ऐसा योगी फल की चिंता, कर्तापन का बोझ, और पाप-पुण्य के भय से मुक्त होता है। जीवन उसके लिए एक स्वच्छ प्रवाह की तरह हो जाता है, जो हो रहा है, वह प्रकृति से हो रहा है, मैं साक्षी मात्र हूँ।

श्लोक-14

परमात्मा अर्थात् आत्मा न तो किसी को कर्म करने का आदेश देता है, न स्वयं कर्म करता है, और न कर्म के फल का संयोग करता है। ये सब तो जीव के स्वभाव (प्रकृति) से ही होते हैं।

सरल व्याख्या- आत्मा शुद्ध, अकर्ता व असंग है, न वह कर्म करता है, न करवाता है। कर्म करना, उनका फल मिलना, ये सब शरीर, इंद्रियाँ और मन के स्वभाव से होता है। प्रकृति का स्वभाव है कर्म करना और फल देना। आत्मा तो सिर्फ साक्षी है। वह शरीर के द्वारा किए गए कर्मों में लिप्त नहीं होता, परन्तु अज्ञान के कारण जीव यह मान लेता है कि मैं ही करता हूँ और मुझे ही फल मिलेगा, यही बंधन का कारण है। जैसे बिजली खुद कोई मशीन नहीं चलाती, वह सिर्फ ऊर्जा देती है। मशीन का चलना-रुकना, काम

करना, ये मशीन के ढाँचे और उसके पुर्जों पर निर्भर है। वैसे ही आत्मा केवल चेतना देता है- शरीर और मन, जो प्रकृति के बने हैं, वे कर्म करते हैं और फल भोगते हैं।

श्लोक-15

परमात्मा (आत्मा) न किसी का पाप लेता है, न किसी का पुण्य लेता है, परन्तु अज्ञान से ढका हुआ ज्ञान ही कारण है कि जीव भ्रमित होकर बंधन में फँस जाता है। आत्मा न किसी को दोष देता है, न किसी को श्रेय देता है।

सरल व्याख्या- आत्मा का स्वभाव है शुद्ध, मुक्त, नित्यमुक्त, लेकिन जब उस पर अज्ञान का पर्दा पड़ता है, तब वह अपने असली स्वरूप को भूलकर अपने को शरीर-मन मान लेता है। इसी भूल से वह मैं पापी हूँ या मैं पुण्यात्मा हूँ जैसी धारणाओं में फँसता है। पाप या पुण्य खुद बंधन का कारण नहीं हैं। इसके बन्धन का कारण है आत्मा का उनसे अपना संबंध मानना, जैसे बादल आकाश को गंदा नहीं करते, वैसे ही पाप-पुण्य आत्मा को गंदा नहीं कर सकते, जैसे सूर्य के सामने बादल आ जाएँ तो सूर्य की रोशनी कम लगने लगती है, जबकि वास्तव में सूर्य वैसा ही तेजस्वी रहता है। वैसे ही आत्मा का ज्ञान अज्ञान से ढक जाने पर वह अपनी शक्ति को खो बैठता है और मोह-माया में फँस जाता है।

श्लोक-16

जिनके आत्मज्ञान से अज्ञान नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान, सूर्य की तरह, परम सत्य को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करता है।

सरल व्याख्या- अपने को शरीर-मन मानना, संसार को स्थायी मानना, परमात्मा से अलग मानना, यही अज्ञान है। अपने को शुद्ध, नित्य, सच्चिदानंद आत्मा के रूप में जानना यही ज्ञान है। सच्चा ज्ञान आते ही अज्ञान का पूर्ण नाश हो जाता है, जैसे सूर्य उगते ही अंधकार मिट जाता है।

श्लोक-17

जिनकी बुद्धि उसी परमात्मा में स्थित है, जिनका मन उसी में लगा है, जो उसी में अडिग हैं और उसी को परम लक्ष्य मानते हैं, वे ज्ञान से पापों का नाश करके उस अवस्था को प्राप्त होते हैं जहाँ से लौटकर संसार में फिर आना नहीं पड़ता।

सरल व्याख्या- ज्ञान का प्रकाश आने से अज्ञान और उससे उत्पन्न सारे पाप-स्वार्थ, क्रोध, लोभ, मोह जलकर नष्ट हो जाते हैं, जब कारण अर्थात् अज्ञान ही न रहा तो फलस्वरूप पाप भी नहीं रहते, फिर ऐसे ज्ञानी पुनः जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं आते। उन्हें मोक्ष की स्थिति मिलती है, जहाँ न समय का बंधन है, न देह का, जिसने परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, उसे संसार में भटकने की आवश्यकता नहीं रहती।

श्लोक-18

जो विद्वान और विनम्र है वे ब्राह्मण गाय, हाथी, कुत्ता और चांडाल इन सबमें समान भाव रखता है और इन सबमें वो मुझ परमात्मा को ही देखते है।।

श्लोक-19

जिनका मन समानता में स्थित है, वे इस जन्म में ही संसार पर विजय पा लेते हैं। क्योंकि ब्रह्म (परमात्मा) निर्दोष और समान है, इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं।

श्लोक-20

जो व्यक्ति प्रिय वस्तु मिलने पर अत्यधिक प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय मिलने पर दुःखी नहीं होता, जिसकी बुद्धि स्थिर है, जो मोह से रहित है, जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म में स्थित रहता है।

श्लोक-21

जो व्यक्ति बाहरी इन्द्रिय-संपर्क में आसक्त नहीं होता और जो सुख आत्मा में पाता है, वह ब्रह्म-योग से युक्त होकर अक्षय आनंद अमृत सुख को प्राप्त करता है।

श्लोक-22

हे कौन्तेय! जो भोग इन्द्रियों और बाहरी वस्तुओं के सम्पर्क से उत्पन्न होते हैं, वे वास्तव में दुःख के ही कारण होते हैं, क्योंकि उनका आदि और अन्त होता है। बुद्धिमान व्यक्ति उनमें आसक्त नहीं होता।

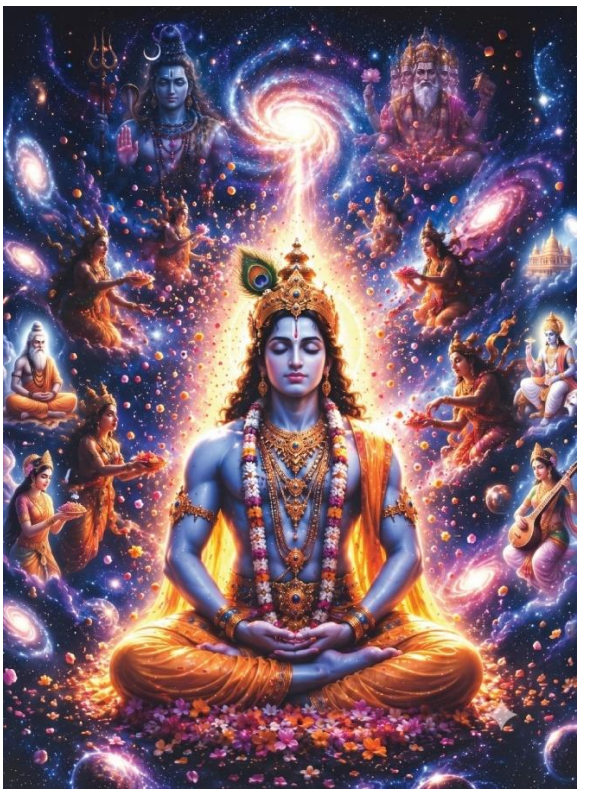
सरल व्याख्या- जब भी किसी व्यक्ति को कोई भोग प्राप्त होता है तो वह प्रारम्भ में उस भोग को प्राप्त करके अत्यन्त प्रसन्न होता है और जब वह उसका भोग करता है तो इन्द्रियाँ और भोग के मिलन से एक क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है और जब वह कुछ समय बाद उस भोग से दूर होता है तो उसे दुःख की प्राप्ति होती है क्योंकि यहाँ भोग की शुरूआत और भोग का अन्त हो रहा है। इसीलिए यह उसके दुःख का कारण बनता है किन्तु जो बुद्धिमान व्यक्ति होते है वे उन भोगों में आसक्त नहीं होते।

श्लोक-23

जो मनुष्य इस जीवन में, शरीर छूटने से पहले ही, काम अर्थात् इच्छा और क्रोध से उत्पन्न वेग को सह सकता है, वही आत्मसंयमी और वास्तव में सुखी व्यक्ति है।

सरल व्याख्या- सहने का अर्थ है, भीतर उठ रहे भावों को दबाना नहीं, बल्कि उन्हें जीत लेना, जैसे- कोई अपमान करे, तो तुरन्त प्रतिक्रिया देने की बजाय धैर्य से संभालना। सहन करने का मतलब यह नहीं कि मन में दबा कर रखा जाए, बल्कि उस इच्छा या क्रोध की जड़ को समझकर उसे समाप्त करना, जब तक शरीर है, तब तक इच्छाएँ और क्रोध आते रहेंगे, परन्तु जो व्यक्ति मरने से पहले ही इन पर विजय पा लेता है, वह जीवित ही मुक्त हो जाता है। मरण के बाद तो शरीर और इन्द्रियों के न रहने से इच्छाएँ स्वाभाविक रूप से शांत हो जाती हैं, परन्तु योग में तो जीवन रहते ही यह सिद्धि पाना लक्ष्य है। वही सच्चा सुखी है जो व्यक्ति काम व क्रोध दोनों भावों को जीत लेता है, वही भीतर से संतुलित और सुखी होता है। उसका सुख बाहरी वस्तु पर निर्भर नहीं रहता। किसी को नौकरी में प्रमोशन नहीं मिला तो सामान्य

व्यक्ति में जलन और क्रोध उत्पन्न होगा, लेकिन एक आत्मसंयमी व्यक्ति कहेगा कि यह भी जीवन का एक अनुभव है, मुझे अपने कर्म पर ध्यान देना चाहिए। वह परिस्थिति का दास नहीं बनता, बल्कि मालिक बनकर जीता है।



श्लोक-24

जो व्यक्ति भीतर ही सुख पाता है, भीतर ही रमण करता है, और भीतर ही ज्योति (ज्ञान) का प्रकाश पाता है। वह योगी ब्रह्म में लीन होकर, ब्रह्म-निर्वाण (पूर्ण मुक्ति) को प्राप्त करता है।

सरल व्याख्या- योगी का मन भीतर ही ईश्वर में, अपने आत्मस्वरूप में रमण करता है। उसे एकांत भी प्रिय लगता है, क्योंकि वहाँ वह अपने भीतर के आनन्द में डूब सकता है। यह वह ज्ञान-प्रकाश है जो अज्ञान के अंधकार को मिटा देता है। यह प्रकाश बताता है, मैं शरीर नहीं, मैं आत्मा हूँ, और आत्मा ब्रह्म का अंश है। बाहरी दीपक बाहर का अंधकार मिटाते हैं, लेकिन यह आंतरिक दीपक भीतर का अज्ञान नष्ट करता है। ऐसा योगी केवल मोक्ष की कल्पना नहीं करता, वह जीवन में ही ब्रह्म में लीन हो जाता है। उसके लिए जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है।

आत्म-स्थित योगी की पूर्णता-

जब जीवात्मा अपने भीतर ही परमात्मा का आनंद पाने लगता है, तो वह बाहर की दुनिया की आसक्ति से मुक्त हो जाता है।

संक्षेप में मिलन की प्रक्रिया-

गीता के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा से मिलन कोई शारीरिक घटना नहीं, बल्कि 'चेतना का परिवर्तन' है-

1. **शुद्धिकरण**-निष्काम कर्म और भक्ति से मन का मैल (अहंकार और वासनाएं) मिटाना।
2. **एकाग्रता**-मन को भटकने से रोककर परमात्मा पर केंद्रित करना।
3. **समर्पण**-यह स्वीकार करना कि "मै"(जीव) परमात्मा का ही अंश हूँ और मेरी सत्ता उनसे अलग नहीं है।जब जीवात्मा पूरी तरह से परमात्मा पर निर्भर हो जाता है, तो वह स्थितप्रज्ञ बन जाता है। इस अवस्था में उसे संसार में भी परमात्मा ही दिखाई देते हैं और अंत में वह परमात्मा में ही विलीन हो जाता है।

श्लोक-25

जिन ऋषियों के पाप अर्थात् कल्मष नष्ट हो गए हैं, जिनका मन संशयों से मुक्त है, जो अपने मन को वश में रखे हुए हैं, और जो सब प्राणियों के हित में लगे रहते हैं। वे ब्रह्म-निर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

सरल व्याख्या- एक दीपक केवल अपने लिए नहीं जलता, वह चारों ओर प्रकाश देता है। उसी तरह सच्चे ऋषि अपने आत्म-कल्याण के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करते हैं। ऐसे ही लोग वास्तव में मुक्ति के अधिकारी होते हैं।

श्लोक-26

जिन संयमी जनों का मन काम अर्थात् इच्छा और क्रोध से मुक्त है, जिनका चित्त संयमित है, और जिन्होंने आत्मा को जान लिया है, उनके लिए चारों ओर से ब्रह्म-निर्वाण (मोक्ष) उपस्थित रहता है।

सरल व्याख्या- आकाश में बादल आते हैं और चले जाते हैं, लेकिन आकाश पर उनका असर नहीं होता। उसी तरह, आत्मा को जानने वाला व्यक्ति इच्छाओं और क्रोध से अप्रभावित रहता है। उसके लिए हर दिशा में मुक्ति का प्रकाश फैल जाता है, चाहे वह जंगल में हो या बाजार में।

श्लोक-27-28

जो साधक बाह्य विषय-स्पर्शों को बाहर रखता है, दोनों भौंहों के बीच दृष्टि को स्थिर करता है और नासिका मार्ग से भीतर चलने वाले प्राण (श्वास) और अपान (निःश्वास) को समान करता है, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि वश में हैं, जो मुक्ति के लिए ही प्रयत्नशील है, और जिसकी इच्छाएँ, भय और क्रोध समाप्त हो चुके हैं, वह साधक सदैव मुक्त ही है।

मान लो कोई व्यक्ति बगीचे में बैठा है। चारों ओर फूल, पक्षी, और लोग हैं, लेकिन वह अपनी आँखें अर्धमुद्रित कर, ध्यान में लीन है। उसे बाहरी चीजें आकर्षित नहीं करतीं, श्वास धीमी और संतुलित है, मन स्थिर है, उसी क्षण वह सदा मुक्त की स्थिति में है, चाहे शरीर अभी भी संसार में हो।

श्लोक-29

जो साधक यह जान लेता है कि मैं भगवान ही यज्ञ और तप का परम भोक्ता हूँ, मैं ही सारे लोकों का स्वामी हूँ, और मैं ही सभी प्राणियों का सच्चा मित्र हूँ, वह मनुष्य पूर्ण शांति प्राप्त करता है।

सरल व्याख्या- एक बच्चा जानता है कि उसका पिता ही घर का मालिक है, वही सबका भरण-पोषण करता है, और वही सच्चा हितैषी है- तो बच्चा निश्चिंत और सुरक्षित महसूस करता है, ठीक वैसे ही, जो साधक भगवान को ऐसे जान लेता है, वह जीवन की दौड़-धूप में भी अंदर से शांति में रहता है।



अध्याय-6

श्लोक-1

श्रीभगवान बोले जो मनुष्य कर्मफल पर आश्रित न रहकर अपना कर्तव्यकर्म करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है, केवल अग्नि त्याग देना अर्थात् हवन न करना या कर्म छोड़ देना ही संन्यास नहीं है। कर्तव्य का पालन करना, यही योग है।

सरल व्याख्या- घर में माता-पिता अपने बच्चों की सेवा बिना फल की आशा के करते हैं। सच्चा संन्यासी वही है जो मन से फल त्याग कर कर्म करता है, वही सच्चा योगी भी है। केवल यज्ञ की अग्नि छोड़ देना अर्थात् कर्म छोड़ देना संन्यास नहीं है। केवल आलसी होकर कर्म न करना भी संन्यास नहीं है। मान लीजिए किसी शिक्षक ने यह सोचकर नौकरी छोड़ दी कि अब मैं कर्म नहीं करूँगा, यह ऊपरी तौर पर तो संन्यास दिखता है परन्तु यह मिथ्याचार है। वहीं दूसरी ओर, कोई शिक्षक अपना कर्तव्य निभा रहा है, बिना पद या धन की लालसा के, तो वह वास्तव में संन्यासी और योगी है।

श्लोक-2

हे अर्जुन! जिसको लोग संन्यास कहते हैं, वही वास्तव में योग है, क्योंकि जिसने संकल्प (इच्छा / आकांक्षा) का संन्यास नहीं किया, वह कोई योगी नहीं हो सकता।

सरल व्याख्या- संन्यास और योग दोनों का सार एक ही है। दोनों का मतलब है- मन से अपनी इच्छाओं और वासनाओं को त्याग करना और ईश्वर में स्थिर होना। योगी का मतलब केवल आसन लगाने वाला नहीं है।सच्चा योगी वही है जो मन के अनेक संकल्पों को शान्त कर ईश्वर में स्थिर हो जाए। मान लीजिए कोई व्यक्ति रोज ध्यान करता है, पर मन में यह संकल्प रखता है कि ध्यान करूँगा तो लोग मेरी तारीफ करेंगे- तो यह योग नहीं है, लेकिन अगर कोई अपने कर्तव्य का पालन करता है और मन में फल की आकांक्षा नहीं रखता, तो वह योगी है, चाहे वह ध्यान की मुद्रा में बैठा हो या न हो। यहाँ श्रीभगवान ने यह बताने का प्रयास किया हैं कि इच्छाएँ तो अनंत होती हैं जो जीवन पर्यन्त कभी समाप्त नहीं होती हैं इसलिए इनका त्याग आवश्यक हैं। किन्तु आवश्यकता का त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि उसके बिना जीवन निर्वाह संभव नहीं हैं। यहीं भेद हैं आवश्यकता और इच्छा में।

आवश्यकता (Need)

यह वह चीज़ है जो आपके **जीवित रहने और स्वस्थ जीवन जीने के लिए अनिवार्य (Essential)** है। इसके बिना जीवन का निर्वहन करना कठिन या असंभव हो जाता है।

- **सरल परिभाषा:** जो जरूरी है और जिसके बिना काम नहीं चल सकता।
- **उदाहरण:** भोजन, पानी, सिर छिपाने के लिए छत (घर), बुनियादी कपड़े, और स्वास्थ्य।

- **विशेषता:** आवश्यकताएं सीमित होती हैं। यदि आप अपनी जरूरतों को पूरा कर लेते हैं, तो आपको संतुष्टि महसूस होती है और आप जीवित रहते हैं।

इच्छा (Desire)

यह वह चीज़ है जो आपके मन में **किसी सुख या सुविधा की चाहत (Want/Wish)** के कारण उत्पन्न होती है। यह जीवन के लिए जरूरी नहीं है, बल्कि यह आपके जीवन को 'आरामदायक' या 'विलासितापूर्ण' बनाने के लिए होती है।

- **सरल परिभाषा:** जो मन को अच्छा लगता है या जिसकी चाहत पैदा हो जाती है।
- **उदाहरण:** सबसे महंगा स्मार्टफोन, ब्रांडेड कपड़े, हर रोज बाहर का खाना, या आलीशान कार।
- **विशेषता:** इच्छाएं असीमित (Unlimited) होती हैं। एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी पैदा हो जाती है। इच्छाएं हमें लालच या असंतोष की ओर ले जा सकती हैं।

मुख्य अंतर (तुलना)

आधार	आवश्यकता (Need)	इच्छा (Desire)
जरूरत	जीवन के लिए अनिवार्य है।	जीवन के लिए अनिवार्य नहीं है।
सीमित/असीमित	यह सीमित होती है।	यह अंतहीन होती है।
असर	इसकी कमी से जीवन पर खतरा हो सकता है।	इसकी कमी से केवल मन में दुःख या अधूरापन होता है।
प्रकृति	यह स्थिर रहती है।	यह समय और फैशन के साथ बदलती रहती है।

एक सरल सूत्र (The Golden Rule)

जीवन में शांति के लिए सबसे अच्छा तरीका यह है-

"अपनी आवश्यकता को तो आप पूरा कर सकते हैं, लेकिन अपनी इच्छाओं का कभी अंत नहीं किया जा सकता।"

- **उदाहरण:** प्यास लगने पर पानी पीना **'आवश्यकता'** है, लेकिन पानी की जगह ठंडी कोल्ड ड्रिंक या महंगी ड्रिंक मांगना **'इच्छा'** है।

यदि आप अपनी **आवश्यकताओं** और **इच्छाओं** के बीच का अंतर पहचान लेंगे, तो आप फिजूलखर्ची से बचेंगे और मानसिक तनाव से दूर रहेंगे।

श्लोक-3

जो योग की सीढ़ी चढ़ना चाहता है, उसके लिए कर्म अर्थात् कर्त्तव्य साधन है, परन्तु जो योग में स्थिर हो गया है अर्थात् योगारूढ़, उसके लिए शांति अर्थात् त्याग, विरक्ति, समाधि ही साधन है।

सरल व्याख्या- साधक यानि शुरुआती योगी को अभ्यास और कर्म करना जरूरी है। सिद्ध अर्थात् स्थिर योगी के लिए मन का शम, विरक्ति, समाधि ही मुख्य है, जैसे कोई बच्चा पढ़ाई शुरू करता है तो उसे रोज पढ़ना, लिखना, अभ्यास करना जरूरी है, लेकिन जो विद्वान बन गया, उसे अब उतना अभ्यास नहीं करना पड़ता, वह ज्ञान में स्थिर हो जाता है।

श्लोक-4

जब मनुष्य न तो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है और न ही कर्मफल में, और जब वह सब संकल्पों (इच्छाओं / वासनाओं) का संन्यास कर देता है, तब वह योगारूढ़ कहा जाता है।

सरल व्याख्या- मान लीजिए एक साधक पहले पूजा-पाठ करता है इस सोच के साथ कि मुझे स्वास्थय मिले, धन मिले, लोग मेरी प्रशंसा करें, पर जब वह योगारूढ़ हो जाता है, तो उसका भाव बदल जाता है कि मैं पूजा इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि यह मेरा कर्तव्य है और इससे मुझे प्रभु की शरण मिलती है। उसका उद्देश्य भोग या फल नहीं होता, केवल आत्मा और ईश्वर में स्थित होना होता है।

श्लोक 5-6

मनुष्य को अपने मन द्वारा स्वयं को ऊपर उठाना चाहिए और अपने को नीचे गिराना नहीं चाहिए, क्योंकि मनुष्य का मन ही उसका मित्र है और मन ही उसका शत्रु है, जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, उसका मन उसका सबसे बड़ा मित्र है, परन्तु जो मन पर विजय नहीं पा सका, उसके लिए मन ही शत्रु के समान बन जाता है।

सरल व्याख्या- मित्र रूप में मन कैसा होता है- यदि कोई व्यक्ति रोज ध्यान करता है, अच्छे विचार सोचता है, दूसरों का भला चाहता है, तो उसका मन उसे आगे बढ़ाता है।

शत्रु रूप में मन कैसा होता है- वही मन जब लालच बुरी आदतों की ओर खिंचता है तो वही मन उसे नीचे गिरा देता है।

श्लोक-7

जिसका मन जीत लिया गया है, जो शांति में स्थित है, ऐसा योगी परमात्मा में स्थिर हो जाता है। वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमान में समभाव रखता है। मन पर विजय पाना ही शांति का मार्ग है, जो व्यक्ति सुख-दुःख, मान-अपमान और परिस्थितियों के द्वन्द्व में सम रहता है, वही सच्चा योगी है।

श्लोक-8

जो योगी ज्ञान और विज्ञान अर्थात् आत्म-साक्षात्कार से संतुष्ट है, जिसने इंद्रियों को जीत लिया है, जो अचल (स्थिर) है, ऐसा सच्चा योगी युक्त कहलाता है। वह मिट्टी, पत्थर और सोने को समान दृष्टि से देखता है।

सरल व्याख्या- ज्ञान यानि शास्त्रों और उपदेशों से प्राप्त समझ। विज्ञान यानि उस ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव अर्थात् साक्षात्कार, जब साधक को यह अनुभव हो जाता है कि सब कुछ परमात्मा ही है, तो वह भीतर से पूर्ण तृप्त हो जाता है।उसका मन अचल, अडिग और स्थिर हो जाता है, जिसने इंद्रियों को जीत लिया है, वह परिस्थितियों से विचलित नहीं होता। ऐसा सच्चा व्यक्ति योग में स्थित योगी कहलाता है। उसके लिए योग केवल अभ्यास नहीं बल्कि जीवन की वास्तविक स्थिति है। वह योगी मिट्टी का ढेला, साधारण पत्थर और सोना, तीनों को समान भाव से देखता है, क्योंकि उसे ज्ञात है कि सब कुछ अस्थायी है और परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है।

श्लोक-9

जो योगी मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने वाले, बंधु, साधु तथा पापी, सबमें समान भाव रखता है, वही श्रेष्ठ माना जाता है।

सरल व्याख्या- वह सबमें एक ही आत्मा को समान रूप में देखता है केवल सबमें कर्म अलग-अलग हैं।

श्लोक-10

योगी को चाहिए कि वह एकांत में स्थित होकर, मन और इंद्रियों को संयमित कर, इच्छाओं और अनावश्यक संग्रह से रहित होकर, निरंतर अपने मन को आत्मा में लगाता रहे।

श्लोक 11-12

योगी को चाहिए कि वह शुद्ध स्थान में जो न अधिक ऊँचा और न अधिक नीचा हो, उसपर स्थिर आसन बिछाकर बैठे और जिस पर कुशा, मृगछाला और वस्त्र क्रम से बिछे हों। योगी उस आसन पर बैठकर, मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को संयमित कर, आत्मा की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।

श्लोक 13-14

योगी को चाहिए कि वह शरीर, सिर और गर्दन को सीधा एवं स्थिर रखे, दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर रखे और चारों ओर न देखे। शांत मन, भय से मुक्त होकर, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, मन को संयमित करके, मुझमें चित्त को स्थित कर, मेरे परायण होकर योग में बैठे।

श्लोक-15

इस प्रकार निरन्तर अपने को योग में लगाते हुए, मन को संयमित करके योगी मेरी शरण में स्थित परम निर्वाणरूप शांति को प्राप्त करता है।

सरल व्याख्या- योग का अभ्यास नियमित, निरन्तर होना चाहिए। मन को बार-बार भगवत साधना में लगाकर संयमित करना आवश्यक है। उसके पश्चात् मन भगवान में स्थिर हो जाता है, तब योगी परम शांति को पाता है। यह शांति सांसारिक सुख या विश्राम नहीं, बल्कि जन्म-मरण से परे की परम मुक्ति है।

श्लोक 16-17

जो व्यक्ति न तो अधिक खाता है और न ही बिल्कुल उपवास करता है, न अधिक सोता है और न ही बिल्कुल जागता रहता है, वही योग में सफल होता है।

सरल व्याख्या- जो आहार-विहार में संयमित है, कार्यों में संतुलित है और नींद-जागरण में उचित है, वही योग से दुःखों का अंत करता है, जब जीवन में संतुलन आता है, तब योग दुःखों का नाश करता है और परम शांति लाता है, जैसे गाड़ी सही गति पर चलने से सुरक्षित रहती है, न ज्यादा तेज, न ज्यादा धीमी- वैसे ही जीवन में भी संतुलन से योग सिद्ध होता है।

श्लोक 18-19

जब मन पूरी तरह संयमित होकर आत्मा में स्थित हो जाता है और सब इच्छाओं से रहित हो जाता है, तब उसे योग में स्थित कहा जाता है, जैसे बिना हवा के स्थान में दीपक की लौ नहीं डोलती, वैसे ही योगी का मन भगवान में स्थिर रहता है।

श्लोक 20-22

योग के अभ्यास से मन शांत होकर आत्मा में स्थित हो जाता है और साधक आत्मा का आनंद अनुभव करता है। यह आनंद इंद्रियों से नहीं, केवल बुद्धि से ही ग्रहण किया जा सकता है और योगी इससे कभी विचलित नहीं होता, जिसे पाकर साधक सोचता है कि अब इससे बढ़कर कोई लाभ नहीं, और इस स्थिति में वह किसी बड़े दुःख से भी नहीं डोलता।

श्लोक 23-25

योग वह अवस्था है जो दुःख के सभी कारणों से मुक्त कर देती है और निश्चित भाव से इसका अभ्यास करना चाहिए। संकल्प से उत्पन्न सभी कामनाओं को छोड़कर मन और इंद्रियों को वश में करना चाहिए। धीरे-धीरे धैर्यपूर्ण बुद्धि से मन को रोकते हुए आत्मा में स्थिर कर देना चाहिए, जैसे कोई व्यक्ति बुरी आदत को धीरे-धीरे त्यागता है और स्थिरता प्राप्त करता है, वैसे ही योगी धीरे-धीरे मन को परमात्मा में टिकाता है।

श्लोक 26-28

जब मन इधर-उधर भागे, तो बार-बार उसे रोककर आत्मा में स्थिर करना चाहिए, जिसका मन शांत है और रजोगुण शान्त हो गए हैं, वह योगी पापरहित होकर परम सुख को प्राप्त करता है। ऐसा योगी ब्रह्म के स्पर्श से परमा आनन्द का अनुभव करता है।

श्लोक 29-31

योग से युक्त आत्मा सभी प्राणियों में अपने को आत्मा और अपने आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है। ऐसा योगी सबमें समान दृष्टि रखता है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, जो मुझे हर जगह देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह मुझसे कभी अलग नहीं होता और मैं भी उससे अलग नहीं होता, जो साधक एकत्व भाव से सब प्राणियों में स्थित मुझे भजता है, वह चाहे किसी भी प्रकार का व्यवहार करे, सदैव मुझमें ही स्थित रहता है।

श्लोक-32

हे अर्जुन! जो योगी अपने समान सबको देखता है, उनके सुख और दुःख को अपना मानता है, वही श्रेष्ठतम योगी है।

श्लोक 33-34

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन! आपने जो यह समभाव वाला योग बताया है, उसकी स्थिर स्थिति मुझे चंचल मन के कारण नहीं दिख रही।

सरल व्याख्या- हे कृष्ण! मन अत्यंत चंचल, उथल-पुथल करने वाला, प्रबल और दुराग्रही है। इसे रोकना वायु को रोकने के समान कठिन है।

श्लोक-35

श्रीभगवान बोले- हे महाबाहो! निस्संदेह मन चंचल और कठिनाई से वश में आने वाला है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य से इसे नियंत्रित किया जा सकता है।

सरल व्याख्या- मन को जीतने के लिए निरंतर अभ्यास आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ है- विषयों के सुख की आसक्ति छोड़ना। अभ्यास और वैराग्य- दोनों मिलकर मन को स्थिर कर देते हैं।

श्लोक-36

असंयमी व्यक्ति के लिए योग कठिन है, पर जिसने मन को वश में कर लिया है और प्रयासरत है, वह साधन के द्वारा योग को प्राप्त कर सकता है।

सरल व्याख्या- मन के संयम के बिना योग सिद्ध नहीं होता। साधक को धैर्य और नियमित साधना करनी चाहिए। संयमित व्यक्ति के लिए योग सरल और प्राप्त करने योग्य हो जाता है।इसी मन के नियन्त्रण से जुड़ी एक कथा का वर्णन आता है। एक बार एक राजा को एक बड़ा ही हष्ट-पुष्ट जंगली घोड़ा प्राप्त हुआ

परन्तु विडंबना यह थी कि वह घोड़ा किसी के भी काबू में नहीं आता था। ऐसी स्थिति में राजा ने एक प्रतियोगिता का आयोजन करवाया और उसमे दूर-दूर से अनेक घुड़सवार बुलवाए। शर्त यह थी कि जो भी घुड़सवार उस घोड़े पर नियंत्रण करके उसपर सवारी करके मैदान के दस चक्कर लगा लेगा, उसे आधा राज्य दे दिया जायेगा और साथ ही राजकुमारी का विवाह भी उससे करवा दिया जाएगा। अनेक राज्यों से, घुड़सवारों ने उस घोड़े को काबू में करने का प्रयास किया परन्तु कोई भी उस पर नियंत्रण पा नहीं सका। अन्त में जब सारे घुड़सवार हार मान गए तो उसी राज्य का एक युवक सामने आकर बोला- "मैं इस घोड़े को काबू में कर सकता हूँ।" राजा ने उस युवक के आग्रह को स्वीकार करते हुए उसे घोड़े को काबू मे करने की आज्ञा दे दी। वह युवक वहाँ बैठा काफी देर से उस घोड़े की प्रतिक्रिया को बड़ी ही सावधानीपूर्वक देख रहा था जिसके पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आखिर वह कौन सा कारण है जिससे यह घोड़ा भड़क जाता है। उसने यह देखा कि घोडा जिस दिशा में खड़ा है वहाँ से सूर्य की किरणें उसपर इस प्रकार पड़ रहीं हैं कि उसे अपनी परछाई बहुत ही लम्बी दिखाई दे रही है और जैसे ही कोई घुड़सवार उसके नजदीक जाता है, उस घुड़सवार की परछाई भी उसके समक्ष लम्बी होकर उसे और भी उत्तेजित कर देती हैं, जिससे वह घोड़ा अनियंत्रित होकर बार-बार अपने घुड़सवार को गिरा देता था। इस तथ्य से अवगत होने के बाद उस युवक ने सबसे पहले उस घोड़े को ऐसी दिशा में घुमाकर खड़ा कर दिया कि जिससे उसे उसकी परछाई दिखना बंद हो गई यानी वह परछाई घोड़े के पीछे हो गई और वह घोड़ा शांत हो गया। उस घोड़े के शांत होते ही उस युवक ने उसकी लगाम को थामकर उसको अपने पूर्ण नियंत्रण में ले लिया और मैदान के दस चक्कर आराम से लगाकर प्रतियोगिता को जीत लिया।

यह घोड़ा वास्तव में हमारा मन है और इन्द्रियजनित उत्तेजनाएँ हमारी परछाईयाँ हैं और जब हम अपने मन को सही दिशा (परमांनद योग) की ओर मोड़ देते हैं तो ये इन्द्रियजनित परछाईयाँ हमारे पीछे हो जाती हैं यानी इन्द्रियाँ अपने विषयों में विचरण करते हुए भी योगी के मन में ऐसी उत्तेजना उत्पन्न नहीं कर पाती जो उसे परमात्मा आनंद से विमुख कर सके।

श्लोक-37

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! यदि कोई श्रद्धा वाला साधक प्रयत्न करने पर भी मन को स्थिर नहीं कर पाता और योग सिद्धि को प्राप्त नहीं कर पाता, तो उसकी क्या गति होती ह

श्लोक-38

हे महाबाहो कृष्ण! क्या वह साधक जो ब्रह्म-प्राप्ति (आत्म-साक्षात्कार) के मार्ग से विचलित हो गया है, आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही सफलताओं से वंचित होकर छिन्न-भिन्न (टूटे हुये) बादल की भाँति नष्ट नहीं हो जाता? क्या उसे किसी भी लोक में कोई सहारा नही मिलता और वह मोहग्रस्त होकर अपना अस्तित्व नहीं खो देता?

सरल व्याख्या- इस श्लोक में अर्जुन एक बहुत गहरी और व्यावहारिक चिन्ता व्यक्त कर रहे है। वे यह जानना चाहते है कि यदि कोई व्यक्ति सांसरिक सुखों का त्याग कर पूर्ण श्रद्धा के साथ ईश्वर प्राप्ति अर्थात् योग के मार्ग पर चलता है, लेकिन बीच में ही असफल हो जाता है, तो उसकी क्या गति होती है? उस

साधक को ऐसा लगता है कि वह दोनों ओर से भ्रष्ट हो गया है, क्योंकि एक तरफ तो उसने संसार को पहले ही त्याग दिया है अर्थात् भौतिक सुख से विरक्त हो गया है और दूसरी तरफ वह अब भगवान को भी पा नही सका है अर्थात् उसे आध्यात्मिक सफलता नही मिली है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह टूटे हुए बादल के समान आकाश में छिन्न-भिन्न सा हो गया है और वह इधर-उधर अपने जीवन में भटक सा रहा है और उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अन्ततः हवा में विलीन होकर समाप्त हो जा रहा है। यहाँ अर्जुन को यह भय है कि ऐसा साधक कहीं बीच में ही फँस कर न रह जाए।

श्लोक-39

हे कृष्ण! इस मेरे संशय को आप पूर्ण रूप से दूर करें, क्योंकि आपके अतिरिक्त इस संशय को कोई नहीं मिटा सकता।

श्लोक-40

श्रीभगवान बोले, हे पार्थ! उस साधक का न तो इस लोक में विनाश होता है और न परलोक में। क्योंकि हे प्रिय अर्जुन! आत्म-उद्धार के लिए अर्थात् भगवत प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला कोई भी साधक दुर्गति को प्राप्त नही होता।

श्लोक-41

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उत्तर देते हुए कहते है- हे अर्जुन! योग के मार्ग से विचलित हुआ साधक अर्थात् योग-भ्रष्ट मरने के बाद उन लोको को प्राप्त करता है जहाँ पुण्य करने वाले लोग जाते है। वहाँ लम्बे समय तक सुख भोगने के बाद, वह पवित्र और समृद्ध (धनी) लोगों के परिवार में जन्म लेता है।

सरल व्याख्या- गीता के उपर्युक्त श्लोक में श्रीभगवान बहुत ही सकारात्मक आश्वासन अर्जुन को दे रहे है कि योग का मार्ग छोड़ने वाला व्यक्ति कभी खाली हाथ नही रहता। उसने जितना भी आध्यात्मिक प्रयास किया है उसका आध्यात्मिक फल उसे अवश्य मिलता है और वह स्वर्ग जैसे शुभ लोको में सुख भोगता है। इसके साथ ही उसे पृथ्वी लोक में भी पुर्नजन्म प्राप्त करने का सुअवसर मिलता है जिसके बाद उसका पुर्नजन्म किसी ऐसे घर में होता है जहाँ वातावरण शुद्ध, सात्विक और आर्थिक रूप से सम्पन्न होता है। ऐसा होने का मुख्य उद्देश्य यह है कि उसे अपने अगले जन्म में भक्ति और योग को आगे बढ़ाने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ और पर्याप्त साधन प्राप्त हो सके। यहाँ भगवान का स्पष्ट तात्पर्य है कि आध्यात्मिक मार्ग पर किया गया थोड़ा सा प्रयास भी कभी व्यर्थ नही जाता और साधक की प्रगति हमेशा बनी रहती है।

श्लोक-42

भगवान श्रीकृष्ण कहते है यदि वह वैसा जन्म नही भी पा पाता तो वह उन योगियों के परिवार में जन्म लेता है जो अत्यन्त बुद्धिमान और ज्ञानी है। वास्तव में, इस संसार में इस प्रकार का जन्म मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ दो प्रकार की सम्भावनाओं का वर्णन कर रहे है कि जैसा पिछले श्लोक-41वें में यह कहा है कि उपर्युक्त प्रकार का साधक धनी और पवित्र परिवार में जन्म लेता है। अब यहाँ 42वें श्लोक में श्रीभगवान कहते है कि उससे भी उत्तम स्थिति यह है कि ऐसे साधक को ऐसे परिवार में जन्म मिले जहाँ के लोग स्वयं ज्ञानी और योग के मार्ग पर चलते हो। ऐसे ज्ञानी योगियों के कुल में जन्म लेने से उस साधक को बचपन से ही आध्यात्मिक वातावरण मिलता रहता है, जिससे वह अपने पिछले जन्म की अधूरी छूटी हुयी साधना को बहुत तेजी से और सहजता से आगे बढ़ा ले जाता है। श्रीभगवान इसे बहुत ही दुर्लभ अवसर बता रहे है, क्योंकि साधक को एक साधारण धन सम्पन्न परिवार तो उसके अगले जन्म में मिल सकता है लेकिन सच्चा और आध्यात्मिक ज्ञान वाला वातावरण मिलना बहुत ही सौभाग्य की बात है। यह सौभाग्य प्रभु कृपा द्वारा ही सम्भव हो पाता है।

श्लोक-43

भगवान श्रीकृष्ण कहते है- हे कुरूनन्दन! उस पुर्नजन्म के अवसर में वह साधक अपने पिछले पूर्व-जन्म के शरीर में प्राप्त की गयी बुद्धि (संस्कारों) के साथ फिर जुड़ जाता है और वहाँ से वह मोक्ष या पूर्णतया जिसे परम सिद्वि भी कह सकते है। उसे प्राप्त करने के लिए वह पहले से भी अधिक उत्साह और प्रयास के साथ आगे बढ़ता है।

सरल व्याख्या- यहाँ पर श्रीभगवान स्पष्ट कह रहे है कि ऐसे साधक के आध्यात्मिक प्रयास कभी व्यर्थ नहीं जाते अर्थात् जो ज्ञान और भक्ति उसके द्वारा पिछले जन्म में अर्जित की गयी थी वह उसके अगले जन्म में उसके साथ ही जाती है। वह वही से शुरू करता है जहाँ से उसने पिछली बार अपना आध्यात्मिक प्रयास छोड़ था। कहने का स्पष्ट तात्पर्य है कि उसे अपनी पिछली साधना का लाभ अवश्य मिलता है। श्रीभगवान यह भी कह रहे है कि वह व्यक्ति केवल वहीं नही रूकता बल्कि वह पहले से भी अधिक मेहनत और प्रयत्न करता है। यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि हमारी आध्यात्मिक यात्रा कई जन्मों की एक निरन्तर यात्रा है जिसमें हर प्रयास अगले पड़ाव की नींव रखता है। यहाँ इस श्लोक में श्रीभगवान के कहने का स्पष्ट तात्पर्य है कि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाला साधक कभी असफल नही होता। उसका हर कदम उसे परमात्मा के और करीब ले जाता है।

श्लोक-44

भगवान श्रीकृष्ण कहते है- हे अर्जुन! वहाँ योग भ्रष्ट साधक अपने पूर्व जन्मों के अभ्यास के कारण ही बिना किसी विशेष प्रयास के परमात्मा की ओर स्वतः ही खींचा चला जाता है। यहाँ तक कि जो व्यक्ति केवल योग के विषय में जानने का इच्छुक अर्थात् जिज्ञासु है, वह भी शास्त्रों के कर्मकाण्डी वचनों से ऊपर उठ जाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ यह श्लोक आध्यात्मिक साधक की स्वाभाविक प्रगति को दर्शाता है। यह उसके संस्कारों की ही शक्ति होती है जिसके कारण वह व्यक्ति अपने पूर्व जन्मों में योग का अभ्यास कर चुका है और अब उसे इस जन्म में परमात्मा की ओर आकर्षित होने के लिए बहुत ज्यादा संघर्ष नही करना पड़ता। उसके पुराने संस्कार **(Habits of Soul)** उसे स्वयं ही आत्म-उन्नति के मार्ग पर ले जाते है। ऐसा साधक चाहे भी तो वह सांसरिक मोह माया में पूरी तरह नही फंस पाता और उसका मन अन्ततः परमात्मा

की ओर मुड़ ही जाता है। कर्मकण्ड वेदों के वे भाग है जो स्वर्ग प्राप्ति या भौतिक लाभों की बात करते है। जिज्ञासु व्यक्ति जब योग के वास्तविक सार को समझने की कोशिश करता है तो वह केवल बाहरी नियमों में नहीं उलझता, बल्कि उससे ऊपर उठकर आत्मज्ञान की ओर अर्थात् परमात्मा की ओर अग्रसर हो जाता है। यह श्लोक यह निष्कर्ष देता है कि आध्यात्मिक विकास कोई छोटी-मोटी यात्रा नहीं है बल्कि वह जन्म-जन्मो की एक निरन्तर प्रक्रिया है जिसमें किया गया हर प्रयास साधक की चेतना को उत्तरोत्तर उन्नति कराता जाता है।

श्लोक-45

श्रीभगवान कहते है- किन्तु, जो योगी अपने पिछले पापों (दोषों) से शुद्ध होकर, अनेक जन्मों तक निरन्तर प्रयत्न करता है, वह अन्ततः सभी पापों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है और सर्वोच्च लक्ष्य अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करता है।

सरल व्याख्या- यहाँ परमात्मा का तात्पर्य मोक्ष से है। आत्मा का परमात्मा से नित्य मिलन से है। यही वह कैवल्य अवस्था है जिसे प्राप्त करना हर साधक का परम लक्ष्य है जिसे प्राप्त करने के बाद और कुछ शेष प्राप्त करना नहीं रह जाता। यही जीव से शिव बनने की यात्रा है। नर से नारायण बनने की कला है। एक नदी जिस प्रकार अपना नाम, आस्तिव आदि खोकर सागर में जाकर सागर बन जाती है। यहाँ उसी प्रकार इस साधना में अहंकार का समापन होकर परमात्मा रूपी सत्ता से ऐक्य हो जाना है अर्थात् एकत्व का भाव अन्तर मन में बैठ जाना है। यही अद्वैतभाव है। यही ''तुम'' और ''मैं'' की समाप्ति है। यहाँ केवल या तो ''मैं ही मै'' रह जाता है या ''तू ही तू'' रह जाता है। ''मैं ही मैं' में ज्ञान योग्य की साधना है और ''तू ही तू'' में भक्ति योग्य की साधना है।

श्लोक-47

योगियों में भी वह श्रेष्ठ है, जो अंतःकरण को मुझमें लगाकर, श्रद्धा के साथ मेरी भक्ति करता है।

सरल व्याख्या- भगवान कहते हैं- सभी योगियों में भक्ति-योगी सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह प्रत्यक्ष मुझसे जुड़ा रहता है।ऐसे ही भक्त की कथा प्रस्तुत है। गुजरात में एक गृहस्थ संत हुआ करते थे, जिनका नाम ईश्वरदास था जो चारण जाति के थे। चारण लोग राजाओं के शौर्य की गाथा गाते थे, जिससे प्रसन्न होकर राजा लोग उन्हें इनाम देते थे। ईश्वरदास जी कई राजाओं के चारण थे इसलिए वे काफी सम्पन्न थे। एक बार वो द्वारिकाधीश के दर्शन करने गये। द्वारिकाधीश के दर्शन करके उनके चित्त में इस बात की बड़ी ही ग्लानि हुई कि सच्चा शौर्य तो द्वारिकाधीश भगवान श्रीकृष्ण का है और मैं इनके गुणगान करने की बजाय भोगासक्ति में डूबे राजाओं की झूठी प्रशंसा गाथा गाता फिरता हूँ, धिक्कार है मुझपर, अब उन्होंने निश्चय कर लिया की अब वो केवल श्रीभगवान की ही गाथा गायेंगे। उन्होंने राजाओं के यहाँ जाना बंद कर दिया। केवल संतो की सेवा, भगवत भजन-कीर्तन, भगवत नाम जप ही दिनभर किया करते थे। आय साधन बंद होने से धीरे-धीरे उनकी सब संपत्ति समाप्त हो गई। एक समय ऐसा आ गया की घर में खाने को भी नहीं रह गया, परन्तु उनके भजन में कोई अन्तर नहीं आया। उन्हें भगवान का साक्षात्कार हो चुका था। अब उन्हें कुछ नहीं चाहिये था। साक्षात् ठाकुर जी उनकी गोद में आकर बैठ जाते थे और अपने कोमल हाथो को ईश्वरदास जी के गाल पर रखकर कहते- ''ईश्वरदास! हम तुमसे अति प्रसन्न हैं, कुछ

माँग लो''। ईश्वरदास जी मुस्कुराकर कहते- ''आप प्रसन्न हैं ना?" ठाकुर जी कहते - "हाँ हम अति प्रसन्न हैं। "ईश्वरदास जी कहते- ''बस हमें सब कुछ मिल गया। आपकी प्रसन्नता ही तो हमारी उपलब्धि है। आप प्रसन्न है बस मेरा काम हो गया। अब हमें कुछ नहीं चाहिए''। एक बार ठाकुर जी उनकी गोद में बैठे हुए कहने लगे- ''ईश्वरदास जी! हम आपसे हठपूर्वक कहते हैं कि कुछ माँग लो, कुछ माँग लो, लेकिन आप हैं कि कुछ नहीं मांगते। आज तो आपको कुछ माँगना ही होगा।'' ईश्वरदास जी बोले - ''आपके पास कोई धंधा नहीं है। बस एक ही काम है कि कुछ माँग लो- कुछ माँग लो। वैसे भी ये बेचारा जीव कामना-वासना से बाहर निकल नहीं पाता और आप उसके सामने और लालच दे देते हो की माँग लो- माँग लो। क्या माँग ले? और कोई काम नहीं है आपके पास? ये वरदान का लोभ देकर कितने भक्तों को ठग लिया है अपने। हम आपकी इस ठगाई में आने वाले नहीं हैं। हम आपको भी ठग लेंगे। हम ऐसे-वैसे कच्चे भगत नहीं हैं। हमको कुछ नहीं चाहिए''। ठाकुर जी भी पीछे पड़ गए- ''आज तो कुछ न कुछ माँगना ही पड़ेगा''। ईश्वरदास जी बोले -''तो ठीक है, अब माँग ही लेते हैं, जब आप माँगने में ही संतुष्ट हैं। यदि यह आपका आदेश ही है कि मैं आपसे कुछ माँग लू, तभी आपको संतोष होगा तो ठीक है, मैं मांगता हूँ। आपसे मैं यह वचन माँगता हूँ कि आज के बाद आप मुझसे यह कभी नहीं कहेंगे कि कुछ माँग लो। यही वचन मैं आपसे माँगता हूँ कि आज के बाद माँगने का प्रस्ताव मेरे सामने नहीं रखेंगे''। इतने निष्काम भक्त थे ईश्वरदास जी। ठाकुर जी के नेत्र भर आये, वह बोले- ''ईश्वरदास जी! आप माँगने के नाम इतना घबरा क्यों जाते हो''? ईश्वरदास जी बोले- ''सरकार एक बात बताइये, चतुराई मत कीजियेगा, सही-सही बोलियेगा। मान लीजिये हम आपसे कोई लौकिक पदार्थ माँग भी ले, आप तो अति उदार हो, आप दे भी दोगे, परन्तु हम आपसे पूछते है कि जैसी कृपा आप अभी हम पर कर रहे हैं वैसी कृपा क्या माँगने के बाद रह जायेगी? आप द्वारिकाधीश है, फिर भी इस गरीब की झोपड़ी में आ जाते हैं और हमारी गोद में बैठकर अपने हाथ मेरे गलो पर थप थपाकर कहते हैं कि बाबा कुछ ले लो। क्या ऐसा व्यवहार फिर रह जायेगा? आप तो फिर सोचेंगे कि मैंने तो वर देके छुट्टी पा ली है, फिर कहीं आपका हमारे यहाँ ऐसा आना ना रह जायेगा। इसीलिए तो हम आपसे कुछ नहीं माँगते''। इस प्रकार ईश्वरदास जी ने कुछ नहीं माँगा और ठाकुर जी अपने धाम चले गए। एक बार ठाकुर जी ने ईश्वरदास जी की कठोर परीक्षा ली। ऐसा हुआ कि तीन दिन तक भिक्षा में कुछ अन्न न प्राप्त होने से ईश्वरदास जी के यहाँ घर पर चूल्हा तक नहीं जला। ईश्वरदास जी गृहस्थ थे उनके यहाँ छोटे-छोटे बच्चे भी थे, जो भूख से बिलख कर रोने लगे थे। ईश्वरदास जी ने पत्नी से पूछा- ''ये बच्चे क्यों शोर मचा रहे हैं''? उनकी पत्नी बोली- ''महाराज! आप तो भक्त हैं, ज्ञानी हैं। आप माला जप कर ही प्रसन्न हो जाते हैं किन्तु इन बच्चों को कौन सा ज्ञान बताकर चुप कराऊँ। ये सब भूख के मारे बिलबिला रहे हैं। तीन दिन हो गए हैं इनको भोजन नहीं मिला है''। ईश्वरदास जी बोले- ''अपने को तो ठाकुर जी से कुछ नहीं चाहिए। बस भजन होता रहे। सो प्रभु की कृपा से हो ही रहा है, और रही इन बच्चों की बात तो बच्चों को तो बहला ही दिया जाता है। ऐसा करो कि चूल्हा जला दो, भगोना चढ़ा दो और उसमें पानी भरकर उसे एक बर्तन से ढक दो, भाप से बर्तन बजेगा, बच्चों को संतोष हो जायेगा कि माँ रसोई में कुछ पका रही हैं और बच्चों से कह दो कि देखो भोजन बन रहा है, रोगे तो नहीं मिलेगा और भगवान का कीर्तन करोगे तो मिलेगा''। माता ने भी बच्चों से कहा- ''भजन करो तभी मिलेगा, नहीं तो नहीं मिलेगा''। सब बच्चे भजन करने लगे- ''श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारी हे नाथ नारायण वासुदेव हरी-2। बस फिर क्या था ठाकुर जी डोल गए, रसोईघर में प्रकट हो गये। घर के लोग कीर्तन कर रहे है और द्वारिकाधीश रसोईघर में खिचड़ी पका रहे है। अभी किसी को पता नहीं और

खिचड़ी पक गई, खिचड़ी बन गई और ठाकुर जी ने सबके सामने परोस दी, सब कीर्तन कर रहे है और आँखों से आँसू बहा रहे हैं। ठाकुर जी बोले- ''हे नारायण! अब तो प्रसाद पा लो क्योंकि माँ ने कहा था कि कीर्तन करोगे तो भोजन मिलेगा, अब भोजन उपस्थित है''। ईश्वरदास जी भी रो पड़े और बोले - ''प्रभु आपने इतना कष्ट क्यों किया।'' ठाकुर जी बोले - ''कष्ट नहीं उठाया। अरे तीन दिन से तुमने नहीं खाया तो तीन दिन से मैंने भी अन्न ग्रहण नहीं किया। तुम जीते और हम हारे। अब तो भोजन पा लो महाराज''! ईश्वरदास जी बोले- ''ठाकुर जी! आप भी तो बैठ जाए और पहले भोजन ग्रहण करें''। ठाकुर जी बोले - ''नहीं! आज हम आपको खिलाकर ही खायेंगें।'' कितना सुन्दर दृश्य है, साक्षात् ठाकुर जी खिला रहे हैं और पूरा परिवार एकसाथ ठाकुर जी की बनाई खिचड़ी का आनंद ले रहा है। जय हो ऐसे भक्तवत्सल भगवान की और ईश्वरदास जैसे निष्काम भक्त की। कहते हैं कि उसके बाद ईश्वरदास जी के यहाँ ठाकुर जी की ऐसी कृपा हुई कि वहाँ भंडारे चालू हो गए। हजारों लोग भोजन ग्रहण करने लगे। ईश्वरदास जी की महिमा परमात्मा जैसी हो गई। धन्य है ऐसे भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण और उनके भक्त।



अध्याय-7



श्लोक-1

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है- हे पार्थ! अब तुम यह सुनो कि मुझमें अपने मन को अनन्य भाव से पूरी तरह लगाकर, एकमात्र मेरी शरण में रहकर और भक्तियोग का निरन्तर अभ्यास करते हुए बिना किसी सन्देह के तुम किस प्रकार मुझे पूर्ण रूप से जान सकते हो, उस विधि को मुझसे सुन।

श्लोक-2

आगे श्रीभगवान कहते है कि मैं तुम्हारे लिए इस रहस्यमय ज्ञान (सैद्धान्तिक ज्ञान) और विज्ञान (अनुभवजन्य ज्ञान) को सम्पूर्ण रूप से कहूँगा, जिसे जान लेने के पश्चात् इस संसार में फिर और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान का अर्थ शास्त्रों के माध्यम से ईश्वर को जानना है और विज्ञान का अर्थ उस ज्ञान को अपने जीवन में अनुभव कर लेने से है। यह ज्ञान इतना पूर्ण और दिव्य है कि इसे पा लाने के बाद मनुष्य की सभी जिज्ञासाएँ शान्त हो जाती है और वह परम सत्य को पा लेता है जिसे पाने के पश्चात् और कुछ भी पाना शेष नही रह जाता।

श्लोक-3

हजारों मनुष्यों में कोई एक ही आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयास करता है, और उन साधकों में भी कोई विरला ही मुझे तत्व रूप में जानता है।

श्लोक-4

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार- ये मेरी आठ प्रकार के भेदों वाली मेरी अपरा अर्थात् जड़ प्रकृति है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ अपनी भौतिक (अपरा) प्रकृति का वर्णन कर रहे हैं जिससे यह सम्पूर्ण सृष्टि सृजित हुई है जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पंचमहाभूत है तथा मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन सूक्ष्म तत्व है। यह सृष्टि इन्हीं आठ तत्त्वों से बनी है। इसी कारण इसे अष्टधा भी कहा जाता हैं।

श्लोक-5

हे अर्जुन! यह अष्टधा (आठ) प्रकार की भौतिक प्रकृति है। इससे अलग मेरी एक और चेतन्य (परा) प्रकृति भी है, जो जीवस्वरूप है, जिससे यह सम्पूर्ण संसार धारण किया जाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि भौतिक प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक और शक्ति है, जो चेतनस्वरूप **(Conscious)** है, जिसे 'जीव' **(Living Being or Soul)** कहते हैं। जीव ही शरीर, इंद्रिय और मन को चलाता है। भौतिक प्रकृति जड़ है, परा प्रकृति चेतन है। जीव के बिना जड़ पदार्थ कुछ नहीं कर सकते।

श्लोक-6

इन दोनों (अपरा और परा) प्रकृतियों से यह सम्पूर्ण जगत उत्पन्न हुआ है। समझ लो कि मैं ही सम्पूर्ण जगत का उत्पत्ति, स्थान और प्रलय हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत इन दोनों शक्तियों-जड़ और चेतन-से ही बना है, लेकिन इन शक्तियों का मूल भी मैं भगवान ही हूँ। वे ही सृष्टि के आदि कारण हैं और अन्त में सब कुछ उन्हीं में लीन हो जाता है। साधक को समझना चाहिए कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड ईश्वर पर आधारित है।

श्लोक 7-10

हे धनंजय! मुझसे परे कुछ भी नहीं है। सब कुछ मुझमें ऐसे गुँथा हुआ है जैसे धागे में मोतियों की माला। हे कौन्तेय! मैं जल में रस हूँ, सूर्य और चन्द्रमा में प्रकाश हूँ, वेदों में ऊँकार हूँ, आकाश में शब्द हूँ और मनुष्यों में पुरुषार्थ हूँ। मैं पृथ्वी में पवित्र गंध हूँ, अग्नि में तेज हूँ, सभी प्राणियों में जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ। हे पार्थ! सभी प्राणियों का सनातन बीज मैं ही हूँ। मैं ही बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि यह सम्पूर्ण जगत मुझ परमेश्वर से ही बना हुआ है, जैसे हमारा शरीर विविध कोशिकाओं और बैक्टीरिया से बना है और समय-समय पर इसमें नई-नई कोशिकाएँ और बैक्टीरियाँ उत्पन्न और समाप्त होते रहते हैं और इसी शरीर में विलीन होते जाते हैं। वैसे ही सृष्टि रुपी परमेश्वर ने हम सब जीवों को धारण कर रखा है जिसमें हम प्राणीजन प्रकट होते हैं और फिर इसी में लुप्त हो जाते है।सम्पूर्ण सृष्टि परमेश्वर का ही शरीर है। वेदांत दर्शन की दृष्टि से भी यही कहा गया है कि ईश्वर सर्वव्यापक है। कहने का तात्पर्य है कि समपूर्ण जगत ही ईश्वर है ब्रह्मांड का प्रत्येक कण उसी चेतन शक्ति अर्थात् परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है, जैसे शरीर की हर कोशिका मिलकर शरीर का निर्माण करती है, वैसे ही ब्रह्मांड का प्रत्येक तत्व मिलकर परमेश्वर का विराट रूप बनाता है।आइये इसे आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण से भी देखते हैं- क्वांटम सिद्धान्त कहता है कि समस्त ब्रह्माण्ड ऊर्जा का एक ही जाल है। डेविड बोह्म ने इसे (Wholeness and the Implicate Order) कहा है जिसके अनुसार ब्रह्मांड में सब कुछ परस्पर जुड़ा हुआ है। ऊर्जा कभी नष्ट नहीं होती, के/वल रूप बदलती है- यह सनातन सत्ता की वैज्ञानिक स्वीकृति है।

कॉस्मोलॉजी और ब्रह्मांडीय एकता भी इसी ओर इशारा करती है जिसमें बिग बैंग थयोरी के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि एक ऊर्जा बिंदु से उत्पन्न हुई और उस ऊर्जा बिंदु में महाविस्फोट हुआ और उस महाविस्फोट से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ग्रह नक्षत्र और तारों की उत्पत्ति हुई, जिसमें आगे चलकर जीव-जन्तुओ की भी उत्पत्ति हुई। इसका अर्थ है कि सबका मूल एक ही है- जिसे वेदांत में परमात्मा कहते हैं। समय, स्थान, ग्रह, तारे सब उसी आदि ऊर्जा का रूप हैं। बायोलॉजी और सेलुलर यूनिटी के अनुसार भी हमारे

शरीर में 37 ट्रिलियन कोशिकाएँ हैं, लेकिन सब मिलकर एक ही जीवित इकाई अर्थात् हमारा शरीर बनाती हैं।इसी प्रकार अनंत जीव, ग्रह, नक्षत्र मिलकर एक विराट ब्रह्मांडीय शरीर का निर्माण करते हैं। यह परमेश्वर का ही विराट रूप है, जैसे महासागर में सभी लहरें महासागर का ही अंश हैं, वैसे ही सृष्टि की हर वस्तु परमेश्वर की अभिव्यति है। ईश्वर इस विराट शरीर का आधार और जीवन-शक्ति है, जब विज्ञान कहता है कि ऊर्जा नष्ट नहीं होती, वेदांत कहता है- अव्यक्त परम-ब्रह्म कभी नष्ट नहीं होता।जब विज्ञान कहता है कि सब कुछ एक ही स्रोत से उत्पन्न है, गीता में इसी अध्याय के सातवें श्लोक में श्री भगवान् कहते हैं कि मुझसे बढ़कर कुछ भी नहीं है।

श्लोक-11

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानों का बल हूँ, जो काम और राग से रहित है और मैं वह इच्छा (काम) हूँ जो धर्म के विरुद्ध नहीं है।

श्लोक-12

सत्त्व, रज और तम ये जो भी भाव हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान के कहने का तात्पर्य है कि प्रकृति के सत, रज और तम ये तीनों उनसे ही उत्पन्न हुए हैं लेकिन वे इनके अधीन होकर इनसे लिप्त नहीं होते बल्कि वे प्रकृति को ही अपने अधीन रखते हैं, जैसे आकाश में बादल दिखाई तो पड़ता है लेकिन बादल आकाश को छू भी नहीं पाता, वैसे ही प्रकृति के ये तीन गुण भगवान को छू भी नहीं पाते, वे उनसे निर्लिप्त ही रहते हैं।

श्लोक-13

सम्पूर्ण जगत इन तीन गुणों (सत, रज व तम) से मोहित है। इसलिए लोग ये नहीं जानते कि मैं इन गुणों से परे और अविनाशी हूँ।

श्लोक 14

मेरी यह गुणमयी (सत, रज व तम) से बनी दैवी माया कठिनाई से पार की जा सकती है, परन्तु जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान बताते हैं कि माया उनकी शक्ति है, जो जीव को संसार में बाँधती है। यह माया इतनी प्रबल है कि साधारण प्रयासों से पार नहीं की जा सकती। केवल वही इसे पार कर सकता है जो भगवान की शरण में जाता है और उनकी कृपा प्राप्त करता है। शरणागति का अर्थ है- अहंकार का त्याग, भगवान पर पूर्ण विश्वास और उनकी इच्छा को स्वीकार करना।

श्लोक-15

दुष्कर्म करने वाले, मूर्ख, नराधम और जिनका ज्ञान माया से हर लिया गया है, वे आसुरी भाव को अपनाकर मेरी शरण में नहीं आते।

श्लोक 16-17

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यवान (सुकृतिमान) लोग मुझे भजते हैं जो आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी है। उन चारों भक्तों में ज्ञानी भक्त विशेष रूप से श्रेष्ठ है, जो नित्य योगयुक्त और एकनिष्ठ भक्ति करता है, क्योंकि ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है और मैं भी उसे अत्यंत प्रिय हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान बताते हैं कि उनकी शरण में आने वाले चार प्रकार के भक्त होते हैं-

1. आर्त - जो दुःख में भगवान को पुकारता है।
2. जिज्ञासु - जो ईश्वर के स्वरूप को जानना चाहता है।
3. अर्थार्थी - जो धन, पद या सांसारिक लाभ के लिए भगवान की उपासना करता है।
4. ज्ञानी - जो भगवान को ही परम सत्य मानकर उन्हें भजता है।

श्लोक-18

ये सब भक्त उदार हैं, पर ज्ञानी तो मेरे ही समान है, क्योंकि स्थिरचित्त होकर वह मुझमें ही स्थित रहता है और मुझे ही परम गति मानता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान सभी भक्तों को उदार कहते हैं क्योंकि वे किसी न किसी रूप में उनसे जुड़े हैं परन्तु ज्ञानी को सबसे श्रेष्ठ बताते हैं, क्योंकि वह भगवान को ही अपना सब कुछ मानता है। ज्ञानी के लिए न धन महत्वपूर्ण है, न भय, न इच्छाएँ केवल भगवान ही परम लक्ष्य हैं। ऐसा भक्त भगवान के समान पूजनीय हो जाता है।

श्लोक-19

अनेक जन्मों के अंत में, ज्ञानी पुरुष मुझे प्राप्त होता है। वह जान लेता है कि वासुदेव ही सब कुछ हैं। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

श्लोक-20

जिनका ज्ञान कामनाओं द्वारा हर लिया गया है, वे लोग अपनी प्रकृति के अनुसार विभिन्न देवताओं की शरण लेते हैं और उसी प्रकार के नियमों को अपनाते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते है कि जिनकी बुद्धि कामनाओं से ढकी हुई है, वे देवताओं की पूजा कर सांसारिक फल चाहते हैं। वे लोग अपनी स्वभाव (प्रवृत्ति के अनुसार पूजा-पद्धति चुनते हैं, परन्तु ऐसी पूजा-पद्धति परम ज्ञान तक नहीं पहुँचाती, यह केवल भौतिक लाभ तक ही सीमित रहती है।

श्लोक 21-22

जो भी भक्त जिस-जिस देवता की पूजा करने की इच्छा करता है, उस भक्त की उसी देवता में अटल श्रद्धा मैं ही प्रदान करता हूँ। वह भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर उसी देवता की आराधना

करता है और उसी देवता से अपने इच्छित भोगों को प्राप्त करता है, परन्तु वे भोग वस्तुतः मैं ही प्रदान करता हूँ।

श्लोक-23

देवताओं के पूजकों का फल नश्वर होता है, क्योंकि वे अल्प बुद्धि वाले हैं। देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्री भगवान कहते है कि देवताओं की पूजा करने वाले भोग की इच्छा से प्रेरित होते हैं, इसलिए उनका फल क्षणिक होता है। देवताओं को प्राप्त होने का अर्थ है- स्वर्ग आदि लोकों में जाकर सीमित काल तक भोग करना और फिर पुनः जन्म-मृत्यु में पड़ना, जबकि भगवान के भक्त सीधे भगवान को पाते हैं, जहाँ शाश्वत सुख है, जन्म-मरण का चक्र नहीं है। इसलिए भगवान का संदेश है कि भोग के बजाय भगवान को ही प्राप्त करना जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए।

श्लोक-24

आगे भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि अल्पबुद्धि वाले मनुष्य, मेरे उस अविनाशी और सर्वोच्च स्वरूप को नहीं जानते, जो कभी प्रकट नही होता अर्थात् जो अव्यक्त है। वे मुझे साधारण मनुष्य ही समझ लेते है, जिन्होंने अब यह शरीर धारण कर लिया है अर्थात् वे मेरे दिव्य स्वरूप को पहचान ही नही पाते और मुझे केवल प्रकृति द्वारा उत्पन्न हुआ जानकर और मानकर भूल कर बैठते है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि जो मुझे साधारण शरीरधारी मनुष्य के रूप में जानते हैं वे अज्ञानी हैं क्योंकि वो उनका सम्पूर्ण स्वरुप नहीं जानते है जो साकार भी है और निराकार भी है। उन्होंने ही सम्पूर्ण सृष्टि को निराकार व साकार दोनों ही रूपों में धारण किया हुआ है।

श्लोक-25

मैं अपनी योगमाया से ढका हुआ सबके सामने प्रकट नहीं होता, इसलिए मूढ़ लोग मुझे जन्मरहित और अविनाशी नहीं जानते।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि अपनी दिव्य योगमाया से वे साधारण लोगों की आँखों से छिपे रहते हैं। इसलिए अज्ञानी लोग भगवान को एक साधारण मनुष्य के रूप में देखते हैं और उनके जन्म-मरण रहित स्वरूप को नहीं समझ पाते। केवल भक्ति और ज्ञान के द्वारा ही भगवान के वास्तविक स्वरूप का अनुभव हो सकता है।

श्लोक-26

हे अर्जुन! मैं सब भूतों के अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि मैं अनादि, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हूँ। सभी जीवों का भूत, वर्तमान और भविष्य मुझे ज्ञात है, क्योंकि मैं ही सबमें स्थित हूँ। किन्तु जीव अज्ञानवश मुझे नहीं जान पाते, क्योंकि वे अपनी माया और इच्छाओं में बंधे हैं।

श्लोक 27-28

हे अर्जुन! अपनी इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व-मोह द्वारा सब प्राणी उत्पत्ति के समय मोह में पड़ जाते हैं। हे परंतप। जिन पुण्यात्माओं का पाप नष्ट हो चुका है, वे द्वन्द्व-मोह से मुक्त होकर दृढ़ व्रत वाले होकर मेरी ही भक्ति करते हैं।

सरल व्याख्या- जब जीव संसार में आता है तो उसमें राग इच्छा और द्वेष पहले से ही संस्कार रूप में होते हैं। इन्हीं से द्वन्द्व अर्थात् सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान की भावना उत्पन्न होती है और जीव मोह में पड़कर भगवान को नहीं पहचान पाता। यह मोह उसे संसार के चक्र में बांध देता है। श्रीभगवान कहते हैं कि जो लोग पुण्यकर्मों में लगे रहते हैं, उनके पाप धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं, जब पाप नष्ट हो जाते हैं तो मन में शुद्धता आती है और द्वन्द्व-मोह से मुक्ति मिलती है। ऐसे शुद्ध और दृढ़ संकल्प वाले भक्त ही भगवान की एकनिष्ठ भक्ति कर पाते हैं। यह भक्ति उन्हें परम ज्ञान की ओर ले जाती है।

श्लोक-29

जो मनुष्य बुढ़ापे और मृत्यु से मुक्त होने का प्रयास करते हुए मेरी शरण ग्रहण करते है वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और समस्त कर्मो को पूरी तरीके से जान लेते है।

श्लोक-30

जो मनुष्य मुझे अधिभूत (सम्पूर्ण भौतिक जगत का स्वामी), अधिदैव (समस्त देवताओं का अधिपति) और अधियज्ञ (समस्त यज्ञों का भोक्ता) के रूप में जानते है, वे निरन्तर मुझमें मन लगाये हुये पुरूष, अपने अन्त समय में भी मुझे ही प्राप्त करते है अर्थात् मुझे सम्पूर्ण रूप से जानते है।



अध्याय-8

श्लोक-1

अर्जुन ने कहा- हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म किसे कहते हैं? कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहते हैं और अधिदैव किसे कहा जाता है?

सरल व्याख्या- अर्जुन यहाँ पाँच प्रश्न कर रहे हैं। ब्रह्म क्या है अर्थात् वह परम सत्य कौन है, जो सबका आधार है? अध्यात्म क्या है अर्थात् आत्मा का स्वरूप क्या है? कर्म क्या है अर्थात् जीव का स्वभाविक कार्य क्या है? अधिभूत क्या है अर्थात् नाशवान भौतिक जगत को किस प्रकार समझें? अधिदैव क्या है अर्थात् देवताओं या दैविक शक्तियों का स्वरूप क्या है?

श्लोक-2

अर्जुन ने कहा- हे मधुसूदन! अधियज्ञ कौन है और इस शरीर में किस प्रकार है तथा अन्तिम समय में, स्थिरचित्त योगीजन आपको किस प्रकार जान सकते हैं?

सरल व्याख्या-अर्जुन यहाँ और दो प्रश्न करता है- पहला अधियज्ञ किसे कहते हैं और वह इस शरीर में कैसे स्थित है? दूसरा मृत्यु के समय में तब साधक कैसे भगवान को जानकर परम गति प्राप्त कर सकता है?

श्लोक-3

श्रीभगवान बोले- अक्षर अर्थात् अविनाशी ही 'परम ब्रह्म' है। आत्मा का अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म' कहलाता है और भूतों (प्राणियों) के भाव को उत्पन्न करने वाला जो त्याग या सृजन है वह 'कर्म' नाम से कहा गया है।

सरल व्याख्या- इस श्लोक में भगवान ने तीन महत्वपूर्ण तत्वों को परिभाषित किया हैः-

(1)	**अक्षर अर्थात् परमब्रह्म**	-	यह वह सर्वोच्च, अविनाशी और शाश्वत तत्व है जिसका कभी नाश नही होता।
(2)	**अध्यात्म अर्थात् स्वभाव**	-	जीवात्मा का अपना वास्तविक स्वरूप, जो शरीर के भीतर स्थित आत्मा है।
(3)	**कर्म अर्थात् विसर्ग**	-	यहाँ कर्म का अर्थ केवल कार्य नही है, बल्कि वह सृजन-शक्ति या त्याग है जिसके कारण इस संसार में प्राणियों की उत्पत्ति होती है और सृष्टि का चक्र चलता रहता है।

यह श्लोक आध्यात्मिक मार्ग की आधारशिला है, क्योंकि यह परमात्मा (परम-ब्रह्म) और जीवात्मा (अध्यात्म) के बीच के सम्बन्ध और सृष्टि के कार्य-कारण सिद्धान्त को पूर्णतया स्पष्ट करता है।

श्लोक-4

हे देहधारी पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन! नाशवान शरीर आदि 'अधिभूत' है, हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा 'अधिदैव' है और इस शरीर में मैं स्वयं ही 'अधियज्ञ' के रूप में स्थित हूँ।

सरल व्याख्या- इस श्लोक में श्रीभगवान ने उन तीन तत्वों को बड़े ही स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है जो भौतिक और आध्यात्मिक जगत को जोड़ते हैः-

(1)	**अधिभूत अर्थात् क्षर-भाव**	-	यह सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि है जो नाशवान है। संसार की हर वह वस्तु जो जन्म लेती है और अन्त में नष्ट हो जाती है जैसे हमारा शरीर वह 'अधिभूत' है।
(2)	**अधिदेव अर्थात् पुरूष**	-	यह पुरूष या हिरण्यगर्भ जो ब्रह्मा भी कहा जाता है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के देवताओं और चेतन के स्वरूप का प्रतीक है।
(3)	**अधियज्ञ अर्थात् स्वयं परमब्रह्म**	-	यह वह सर्वोच्च सत्ता है जो स्वयं परमात्मा भगवान कृष्ण है। वे हमारे इस शरीर के भीतर हृदय में स्थित रहकर हमारे हर कर्म और यज्ञ अर्थात् बलिदान/ समर्पण के साक्षी और उपभोक्ता है।

श्रीभगवान यहाँ अर्जुन को स्पष्ट समझा रहे है कि शरीर के भीतर हर क्रिया का अन्तिम केन्द्र बिन्दु वही स्वयं परमात्मा श्रीकृष्ण जी महाराज है।

श्लोक-5

जो मनुष्य अन्त समय में केवल मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है- इसमें कोई संशय नहीं है।

श्लोक-6

हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य अन्त समय में जिस-जिस भाव अर्थात् विचार या स्वरूप का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है। वह उसको ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव में भावित अर्थात् चिन्तनशील रहा है।

सरल व्याख्या- यह श्लोक पिछले श्लोक का ही तार्किक विस्तार है और यह जीवन के सबसे गहरे रहस्यों में से एक हैः-

(1)	**आदतों का प्रभाव**	-	हम जीवन भर जिन विचारों, इच्छाओं या विषयों का चिन्तन करते है, अन्त समय में हमारा मन अनजाने में से उसी ओर मुड़ा जाता है।
(2)	**अन्तिम विचार का महत्व**	-	मृत्यु के क्षण में मन जिस अवस्था में होता है, वैसी ही गति हमें अपने अगले जन्म में प्राप्त होती है।
(3)	**साधना का उद्देश्य**	-	इसलिए आध्यात्मिक मार्ग में निरन्तर परमात्मा के स्मरण का अभ्यास करने को कहा गया है, ताकि अन्त समय में कोई भी बाहरी विचार बाधा न बने और चित्त पूरी तरह परमात्मा में ही लीन रहे।

उपर्युक्त श्लोक का सरल शब्दों में भाव यह है कि जैसी मति वैसी गति। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन पर्यन्त आपका जैसा चिन्तन होगा, वैसी ही गति आपको प्राप्त होगी। सत्य तो यह है कि अगले किस क्षण हमारा शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाये, यह कोई नहीं जानता। इसलिए जितना सम्भव हो जीवन निर्वाह करते हुए स्वयं को परमात्मा भाव में स्थित रखो। यही एक मात्र हमारी परम गति का साधक है। इसी को और सुन्दर तरीके से स्पष्ट करने के लिए श्रीमद्भगावत में ऋषि जड़भरत की एक अत्यन्त रोचक कथा आती है। एक समय की बात है जब ऋषि जड़भरत अपने तप, ज्ञान और यज्ञ द्वारा मोक्ष को प्राप्त करने के द्वार पर ही खड़े थे और तभी जब वे अपने नित्य स्नान आदि कर्म करने के बाद नदी के पास खड़े थे, तब उन्होंने देखा कि एक गर्भवती हिरणी, अपनी जान शेर से बचाने के लिए भाग रही थी। उस भगा-भागी में उस गर्भवती हिरणी के गर्भ से एक शवक हिरण ऋषि जड़भरत के सामने ही पैदा हो गया और शेर के भय से हिरणी नदी में गिर कर मृत्यु को प्राप्त हो गयी। वही ऋषि जड़भरत उस मृग शवक पर दया करके उसे अपने घर ले आये और वह बच्चे का बड़े ही प्रेम, स्नेह से पालन पोषण करने लगे। धीरे-धीरे उनका मोह उस मृग शवक, जो अब बड़ा हो गया था, उसके प्रति बढ़ता ही चला गया और वहीं ऋषि जड़भरत का अपनी अध्यात्मा उन्नति के प्रति साधना धीरे-धीरे कम होने लगी और एक समय ऐसा आया जब ऋषि जड़भरत मृत्यु के द्वार पर खड़े थे तो उन्हें उस शवक के प्रति इतना मोह जाग्रत हुआ कि वे उसका ही स्मरण करते-करते मृत्यु को प्राप्त हो गये और अपने अगले जन्म में हिरण बनकर ही पैदा हुये।

श्लोक-7

इसलिए, तू सभी कालों में मेरा स्मरण करता हुआ युद्ध कर। मन और बुद्धि मुझे अर्पित करने से तू निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि मृत्यु के समय स्मरण तभी सम्भव है, जब जीवनभर स्मरण का अभ्यास किया गया हो। इसलिए तू केवल मृत्यु की घड़ी का ही चिन्तन न कर, बल्कि हर समय मेरा स्मरण कर, साथ ही अपनी स्वाभाविक कर्तव्य-क्रियाएँ (जैसे युद्ध) भी करता रह। यदि मन और बुद्धि भगवान में अर्पित हो जाएँ, तो साधक संसार के बीच रहकर भी भगवान को ही प्राप्त होता है।

श्लोक-8

हे पार्थ! जो व्यक्ति बार-बार अभ्यास करके अपने मन को भगवान में लगाता है, और मन को कहीं और नहीं भटकने देता, वह निरन्तर भगवान का ही स्मरण करता हुआ अन्त में भगवान को ही प्राप्त होता है।

श्लोक-9

जो साधक मृत्यु के समय भगवान का इस प्रकार स्मरण करता है कि भगवान सब कुछ जानने वाले हैं, सनातन हैं, सबका शासन करने वाले हैं, अणु से भी छोटे और विराट से भी बड़े हैं, सब प्राणियों के धारणकर्ता हैं, जिनका रूप मन से सोचा नहीं जा सकता, जिनका प्रकाश सूर्य जैसा है, और जो अन्धकार अर्थात् अज्ञान से परे हैं, वह साधक उन परम भगवान को ही प्राप्त होता है।

सरल व्याख्या- यह श्लोक हमें केवल मृत्यु के समय ईश्वर को याद करने की सलाह नहीं देता, बल्कि यह सिखाता है कि अगर हम अंत समय में ऐसा ध्यान चाहते हैं, तो हमें आज और अभी से इसका अभ्यास (Practice) करना होगा। जब हम रोज़ जीने के साथ-साथ ईश्वर के इस सर्वव्यापी रूप को याद रखेंगे, तभी अंतिम समय में भी यह स्मृति हमारे साथ रहेगी।

श्लोक-10

जो पुरुष मृत्यु-समय में अचल मन से, भक्ति सहित योगबल के द्वारा, भौंहों के बीच में प्राण को अच्छी तरह स्थिर करके उस परम दिव्य पुरुष का स्मरण करता है, वह उसी परम पुरुष को प्राप्त होता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान् के कहने का तात्पर्य है कि जो साधक मृत्यु के समय अपने प्राणो को परम भक्ति भाव के साथ अपनी भोहों के मध्य योग द्वारा स्थित करके मुझ परमात्मा का स्मरण करते हुए देह त्यागता है वह मुझ परम परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

श्लोक-11

हे अजुर्न! वेदों के ज्ञाता जिस अक्षर परमब्रह्म को अविनाशी कहते है, जिसमें स्थित होने के लिए बड़े-बड़े तपस्वी असक्ति छोड़कर प्रवेश करते है और जिसे पाने की इच्छा रखने वाले ब्रह्मचर्य का पालन करते है, उस परम पद के बारे में मैं तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्लोक में श्रीभगवान उस सर्वोच्च लक्ष्य परमब्रह्म की ओर संकेत कर रहे है जिसे योगी और ज्ञानी पुरूष अपनी कठिन साधना, इन्द्रिय संयम और ब्रह्मचर्य के माध्यम से प्राप्त करने का

प्रयास करते है। श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन को उस आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त करने की संक्षेप विधि बताने का आश्वासन देते है।

श्लोक-12

सभी इन्द्रियों के द्वारों को रोककर, मन को हृदय में स्थिर करके और प्राण को मस्तक में स्थित करके- इस प्रकार योगधारण में स्थित होकर साधक परमात्मा का ध्यान करता है।

सरल व्याख्या- भगवान के कहने का तात्पर्य यह है कि मृत्यु के समय भी यदि मन, प्राण और इन्द्रियाँ सब संयमित होकर भगवान में लग जाएँ तो मुक्ति सुनिश्चित है। यहाँ श्री भगवान के कहने का तात्पर्य है कि इन्द्रियों का संयम आवश्यक है जिसके लिए बाहरी विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अपने वश में करना चाहिये। वही मन की स्थिरता भी अति आवश्यक है, ताकि चंचल मन हृदय प्रदेश में प्रवेश करके एकाग्रचित होकर बैठ जाए। प्राणों को भी मस्तक में धारण करके ध्यानावस्था में बैठना चाहिए, ताकि प्राण ऊर्जा ऊपर की ओर खींचकर मस्तिष्क के आज्ञा चक्र (भ्रू-मध्य) में स्थित हो जाए।

श्लोक-13

जो साधक ऊँ इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ, साथ ही मेरा स्मरण करता हुआ शरीर का परित्याग करता है, वह परम गति (मुक्ति / भगवद्प्राप्ति) को प्राप्त होता है।

श्लोक-14

हे पार्थ! जो योगी अनन्यचित्त होकर मुझे निरन्तर स्मरण करता है- उसके लिये मैं सहज ही प्राप्त होने योग्य हूँ, क्योंकि वह निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है।

श्लोक-15

जो महात्मा मुझे प्राप्त कर लेते हैं, वे इस नश्वर और दुःखों के घर समान संसार में पुनर्जन्म नहीं लेते। वे परम सिद्धि (परम मुक्ति) को प्राप्त हो जाते हैं।

श्लोक-16

हे अर्जुन! ब्रह्मलोक से लेकर सब लोकों तक के प्राणी पुनः-पुनः जन्म और मरण को प्राप्त होते हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरी प्राप्ति कर लेता है, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।

श्लोक-17

श्रीभगवान काल (समय) की विशालता समझते हुए कहते हैः- जो लोग समय के वास्तविक स्वरूप को जानते है, वे यह समझते है कि ब्रह्मा का एक दिन एक हजार युगों की अवधि का होता है और उनकी एक रात्रि भी एक हजार युगों की ही होती है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान समय के उस विशाल चक्र को दर्शा रहे है जिसे मानवीय बुद्धि आसानी से नही समझ सकती। ब्रह्म का जो एक दिन और एक रात होती है उसे 'कल्प' कहा जाता है। एक हजार

चर्तुयुगी (सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलयुग के चक्र) मिलने पर ब्रह्म का एक दिन (दिन का एक भाग) होता है। श्रीभगवान यहाँ संसार की नश्वरता को स्पष्ट करने के लिये काल की विशालता बताते हैं। सृष्टि और प्रलय क्या है- जब ब्रह्म का एक दिन होता है तो सृष्टि प्रकट होती है और जब ब्रह्म की एक रात्रि होती है, तो प्रलय (सृष्टि का लय) हो जाता है।



श्लोक-18

ब्रह्मा का दिन आने पर सभी जीव 'अव्यक्त' (सूक्ष्म/अदृश्य अवस्था) से 'व्यक्त' (स्थूल/दृश्य जगत) होकर उत्पन्न होते है और ब्रह्मा की रात्रि आने पर वे सभी पुनः उसी 'अव्यक्त' नामक सूक्ष्म अवस्था में विलीन हो जाते है।

सरल व्याख्या- इस श्लोक में सृष्टि की निरन्तर चलने वाली व्यवस्था का वर्णन किया गया है।

सृष्टि का चक्र- जैसे दिन निकलने पर चीजे दिखाई देने लगती है, वैसे ही ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में सारा संसार सूक्ष्म अवस्था से प्रकट हो जाता है।

प्रलय का चक्र- जैसे रात होने पर सब कुछ अंधेरे में छिप जाता है वैसे ही ब्रह्मा की रात्रि के समय पूरा दृश्य जाग्रत वापस उसी अव्यक्त मूल में लीन हो जाता है।

यहाँ श्रीभगवान कहते है कि सब कुछ 'अव्यक्त' से प्रकट होता है और पुनः 'अव्यक्त' में ही विलीन (प्रलय) हो जाता है। 'अव्यक्त' अवस्था वह अवस्था है जहाँ कुछ भी दिखाई नहीं देता, लेकिन जिसमें पूरी सृष्टि का अस्तित्व सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। यह एक अत्यन्त रोचक और गहरा प्रश्न है कि श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय- 8.18 श्लोक में आधुनिक विज्ञान की 'ब्लैक होल' (Black Hole) थयोरी स्पष्ट रूप से छिपी है, यह एक सरल व्याख्यात्मक दृष्टिकोण हो सकता है, लेकिन इसे समझने के लिए हमें धर्म और विज्ञान की भाषा के अंतर को देखना होगा।

आइए, दोनों के बीच के संबंध को विश्लेषित करें-

1. दार्शनिक समानता (Philosophical Parallel)-

श्लोक 8.18 में भगवान कहते हैं कि सब कुछ 'अव्यक्त' से प्रकट होता है और पुनः 'अव्यक्त' में ही विलीन (प्रलय) हो जाता है।

- 'अव्यक्त' वह अवस्था जो दिखाई नहीं देती, लेकिन जिसमें पूरी सृष्टि का अस्तित्व सूक्ष्म रूप में विद्यमान है।
- 'ब्लैक होल' आधुनिक खगोल विज्ञान के अनुसार, ब्लैक होल एक ऐसी जगह है जहाँ गुरुत्वाकर्षण इतना शक्तिशाली है कि वहाँ से प्रकाश भी बाहर नहीं आ सकता। वहाँ पदार्थ **(Matter)** का घनत्व इतना अधिक हो जाता है कि वह एक 'सिंगुलैरिटी' **(Singularity)** बन जाता है, जहाँ भौतिक विज्ञान के वर्तमान नियम काम नहीं करते।
- 'समानता' दोनों ही 'अदृश्य' अवस्था की बात करते हैं जहाँ से सब कुछ उत्पन्न होता है और वापस सिमट जाता है, जैसे ब्लैक होल में सब कुछ समाकर 'अदृश्य' या सूक्ष्म हो जाता है, वैसे ही 'प्रलय' में भी सृष्टि का स्थूल स्वरूप अदृश्य मूल में विलीन हो जाता है।

2. क्या यह विज्ञान ही है?

इसे सीधे तौर पर ब्लैक होल की थ्योरी कहना वैज्ञानिक रूप से सटीक नहीं होगा, लेकिन यह कहना गलत भी नहीं है कि प्राचीन भारतीय ऋषियों **(Researchers)** ने सृष्टि के 'विस्तार' **(Expansion)** और 'संकुचन' **(Contraction)** की प्रक्रिया को बहुत पहले ही समझ लिया था।

- 'महाविस्फोट और महासंकुचन **(Big Bang & Big Crunch)**' आधुनिक विज्ञान की **Big Crunch** थयोरी भी यही कहती है कि ब्रह्मांड का विस्तार एक सीमा तक होगा और फिर वह वापस सिमटकर एक बिंदु (सिंगुलैरिटी) में आ जाएगा। गीता का यह श्लोक उसी ब्रह्माण्डीय चक्र की ओर संकेत करता है।
- विज्ञान जिस तरह से 'ब्रह्मांड कैसे कार्य करता है **(How)** का उत्तर खोजता है, गीता 'यह सब क्यों और किसके द्वारा हो रहा है **(Why and By Whom)** का आधार प्रदान करती है। अतः

यह कहना कि 'ब्लैक होल' का सिद्धान्त 'प्रलय' के उस सूक्ष्म और 'अदृश्य' सिद्धान्त का एक छोटा-सा भौतिक हिस्सा हो सकता है, एक बहुत ही गहरी और तर्कसंगत सोच है।

श्लोक-19

हे पार्थ! वही प्राणियों का समूह (सभी जीव) बार-बार उत्पन्न होकर, ब्रह्मा की रात के आने पर लीन हो जाता है और ब्रह्मा के दिन के आने पर फिर अवश होकर प्रकट होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक भगवान की शरण नहीं ली जाती, तब तक जीव इस जन्म-मरण के चक्र से बँधा ही रहता है।

श्लोक 20-21

उस 'अव्यक्त' (प्रकृति) से परे भी एक और सनातन (शाश्वत) 'अव्यक्त' तत्त्व है, जो सभी प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। जिसे 'अव्यक्त अक्षर' कहा गया है, वही परम गति है, वही अक्षर स्वरूप है जिसे प्राप्त करके जीव कभी लौटकर संसार में नहीं आता- वही मेरा परम धाम है।

सरल व्याख्या- उपर्युक्त दोनों श्लोकों में दो प्रकार के 'अव्यक्त' (प्रकृति बनाम परमात्मा) का अर्थ श्रीभगवान द्वारा बताया गया हैं।

गीता में दो तरह के 'अव्यक्त' (जो दिखाई न दे) की बात की गई है:

- **पहला अव्यक्त (भौतिक प्रकृति)-** जब प्रलय आती है, तो यह पूरी दृश्यमान दुनिया (पेड़, पौधे, मनुष्य, ग्रह) अदृश्य होकर अपनी मूल प्रकृति में समा जाती है। इसे 'अव्यक्त प्रकृति' कहते हैं। यह नष्ट और प्रकट होती रहती है।
- **दूसरा सनातन अव्यक्त (परमात्मा)-** श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस प्रकृति के विलीन होने के बाद भी एक और तत्त्व बच जाता है, जो कभी नष्ट नहीं होता। वही सनातन अव्यक्त है। जब ब्रह्मांड का अंत (महाप्रलय) भी हो जाता है, तब भी वह सत्ता वैसी की वैसी ही रहती है।

'अव्यक्त अक्षर' और 'परम गति' का अर्थ

- **अक्षर-** जिसका कभी 'क्षर' (नाश) न हो और जो समय, काल और परिस्थितियों से परे हमेशा एक जैसा रहे।
- **परम गति-** यह मनुष्य जीवन का अंतिम और सर्वोच्च लक्ष्य हैं। हम संसार में जितनी भी सफलताएं पाते हैं, वे अस्थायी हैं। लेकिन इस अक्षर तत्त्व को पा लेना ही जीवन की 'परम गति' या आखिरी पड़ाव है।

मोक्ष की पराकाष्ठा

संसार का नियम है कि यहाँ जो भी आता है, उसे जाना पड़ता है और जो जाता है, उसे कर्मों के अनुसार वापस जन्म लेना पड़ता है। लेकिन भगवान कहते हैं कि जो साधक अपनी चेतना को उस सर्वोच्च

परमात्मा से जोड़ लेता है, वह इस जन्म-मरण के दुखों से भरे चक्र से हमेशा के लिए मुक्त हो जाता है और वह शुद्ध आनंद (सच्चिदानंद) में लीन हो जाता है।

परम धाम

'परम धाम' कोई भौतिक महल या स्वर्ग जैसा स्थान नहीं है जहाँ सुख-सुविधाएं मिलती हों। परम धाम का अर्थ है परमात्मा की साक्षात उपस्थिति या उनका मूल स्वरूप। यह वह अवस्था है जहाँ पूरी तरह से शांति, प्रकाश और असीम आनंद है, जहाँ अज्ञान या अंधकार का कोई नामोनिशान नहीं है।

निष्कर्ष-

इस संदेश के माध्यम से श्रीकृष्ण हमें समझा रहे हैं कि यह संसार और हमारा शरीर नश्वर (नष्ट होने वाला) है। बुद्धिमान साधक वह है जो इस अस्थायी संसार की चीजों में पूरी तरह न डूबकर, उस शाश्वत और सनातन तत्त्व (ईश्वर) को खोजने और उसमें स्थित होने का प्रयास करता है, क्योंकि वही हमारा असली और स्थायी घर (परम धाम) है।

श्लोक-22

हे पार्थ! वह परम पुरुष (परमात्मा) अनन्य भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है, जिसके भीतर सब प्राणी स्थित हैं और जिससे सम्पूर्ण जगत व्याप्त है।

श्लोक-23

हे भरतश्रेष्ठ! अब मैं वह काल बताऊँगा, जिस समय देह त्याग करने पर योगीजन फिर संसार में लौटकर नहीं आते और वह काल भी बताऊँगा, जिस समय देहत्याग करने पर वे लौटकर आते हैं।

श्लोक-24

हे अर्जुन! जो योगी भगवान को जानते हैं और शरीर त्यागते समय प्रकाश वाला मार्ग अर्थात् दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण आदि पाते हैं'- वे परमात्मा को प्राप्त होकर फिर वापस संसार में नहीं आते।

सरल व्याख्या- मतलब जब साधक का अन्तःकरण शुद्ध, उज्ज्वल और भगवान में लगा होता है, तो वह मृत्यु के समय ऐसे मार्ग से जाता है कि सीधा परमात्मा को प्राप्त होता है। ऐसे योगी को फिर जन्म-मरण में वापस नहीं आना पड़ता।

श्लोक-25

हे अर्जुन! जो योगी कृष्णपक्ष, दक्षिणायन आदि में शरीर त्यागते हैं वे चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं और वहाँ सुख भोगकर फिर वापस संसार में लौट आते हैं।

सरल व्याख्या- यह लौटने वाला मार्ग है। धुआँ, रात, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन सब अंधकार और क्षय के प्रतीक हैं। इसका मतलब है कि यदि साधक का मन उतना उज्ज्वल और शुद्ध नहीं है, केवल पुण्यकर्म

करके शरीर छोड़ता है, तो वह चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्ग जैसे लोक तक जाता है। वहाँ कुछ समय सुख भोगता है, लेकिन पुण्य खत्म होते ही फिर संसार में जन्म लेना पड़ता है। इसे पितृयान मार्ग भी कहते हैं।

श्लोक-26

हे अर्जुन! संसार में दो तरह के मार्ग माने गए हैं- शुक्लमार्ग (प्रकाश वाला मार्ग) इससे जाने वाला योगी परमात्मा को पाकर फिर नहीं लौटता। कृष्णमार्ग (अंधकार वाला मार्ग) इससे जाने वाला योगी सुख भोगकर फिर वापस संसार में लौट आता है। शुक्ल मार्ग का तात्पर्य है वह मार्ग जिस पर जीव अपने सभी कर्मों का त्याग कर अकर्ता स्वरुप होकर ब्रह्म में लीन हो ब्रह्म ही हो जाता है और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर ब्रह्म ही हो जाता है।

सरल व्याख्या- कृष्णमार्ग का तात्पर्य है वह मार्ग जिस पर जीव स्वयं को कर्ता मानकर पाप व पुण्य का भोक्ता भी बनाता है और पाप-पुण्य अधिक होने पर नर्क-स्वर्ग जैसा जीवन पाकर पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है और अपने कर्मो के अनुरूप अलग अलग योनिया भोगनी पड़ती है।

श्लोक-27

हे अर्जुन! जो योगी इन दोनों मार्गों (शुक्ल और कृष्ण) को जान लेता है, वह किसी प्रकार मोह में नहीं पड़ता। इसलिए, हे अर्जुन! तू हर समय योगयुक्त रह।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि इस संसार में दो रास्ते हैं। एक मुक्ति का जो शुक्ल मार्ग है, दूसरा वापसी का जो कृष्णमार्ग है, जो योगी यह भेद जान लेता है, उसे कभी भ्रम या मोह नहीं होता कि मृत्यु के बाद क्या होगा। इस समझ से साधक का मन स्थिर और निश्चिन्त रहता है। इसलिए अर्जुन! तू हर समय भगवत-योग में लगा रह, क्योंकि जब मन हर समय योगयुक्त रहेगा, तभी मृत्यु के समय भी भगवत की ओर ही जाएगा।

श्लोक-28

हे अर्जुन! इस रहस्य को जानकर (अक्षर ब्रह्म के स्वरूप को समझकर), योगी वेदों के अध्ययन, यज्ञों के अनुष्ठान, तपस्या और दान-पुण्य करने से जो फल प्राप्त होता है, उन सबको पार कर जाता है। वह उन सभी फलों से ऊपर उठकर परम और आदि (सबसे पहले) स्थान को प्राप्त कर लेता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि सांसारिक और धार्मिक कार्यों (जैसे वेद पाठ, यज्ञ, दान, तप) का फल सीमित होता है- यह हमें स्वर्ग या अन्य लोकों तक तो पहुँचा सकता है, लेकिन जन्म-मरण के चक्र से पूरी तरह मुक्त नहीं करता।

- **योग का महत्व-** जो साधक इस अध्याय में बताए गए ज्ञान (अक्षर ब्रह्म) को समझ लेता है, वह इन सभी भौतिक और पुण्य-कर्मों के फलों से बहुत आगे निकल जाता है।
- **परम पद -** ऐसे योगी को मोक्ष मिलता है और वह परम स्थान यानी स्वयं परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता का आठवाँ अध्याय समाप्त होता है, जो 'अक्षर ब्रह्म' की महिमा और उसे प्राप्त करने के मार्ग को समर्पित है।



अध्याय-9

श्लोक-1

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- हे अर्जुन! मैं अब तुझको यह सबसे गुप्त और उत्तम ज्ञान (सिद्धान्त) बताता हूँ। तू निसंग और निर्दोष भाव से सुन। यह ज्ञान और उसके साथ प्रत्यक्ष अनुभव (विज्ञान) सहित है। इसे जान लेने पर तू सब प्रकार के दुःखों और अशुभ परिणामों से मुक्त हो जाएगा।

सरल व्याख्या- गीता का यह अध्याय राजविद्या राजगुह्य योग कहलाता है। इसमें भगवान वह ज्ञान देते हैं जो सबसे उत्तम और सबसे गुप्त है। यह ज्ञान केवल सुनने भर का नहीं, बल्कि इसका अनुभव भी कराया जा सकता है। इसलिए इसे 'ज्ञान-विज्ञान' कहा गया है। भगवान विशेष बात पर जोर देते हैं कि यह उपदेश उन्हीं को दिया जाता है जिनमें ईर्ष्या-दोष-दर्शन का भाव नहीं है, जो सरल हृदय से भगवान की बात को स्वीकार करता है, वही इसका लाभ उठा सकता है। इस ज्ञान को पाने के बाद मनुष्य संसार के बंधनों, पापों और दुखों से मुक्त हो जाता है।

श्लोक-2

यह ज्ञान विद्या का राजा है, और रहस्यों का भी राजा है। यह अत्यन्त पवित्र और उत्तम है। यह ऐसा धर्म है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। इसे करना बहुत आसान है और यह कभी नाश होने वाला नहीं है।

श्लोक-3

हे अर्जुन (परन्तप)! जो मनुष्य इस उत्तम धर्म (भक्ति-मार्ग) में श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त नहीं होते और जन्म-मरण के चक्र में ही घूमते रहते हैं।

श्लोक-4

यह सम्पूर्ण जगत मुझ निराकर परमात्मा से व्याप्त है जैसे जल में बर्फ व दूध में घी व्याप्त रहता है। सब प्राणी मुझमें स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें वास्तव में स्थित नहीं हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ अपनी सर्वव्यापकता बताते हैं। वे कहते हैं कि जैसे आकाश सब जगह व्याप्त है पर दिखाई नहीं देता, वैसे ही मैं भी अपने अव्यक्त रूप से सारे जगत में व्याप्त हूँ। सभी प्राणी, चर-अचर, मेरा ही आधार लेकर स्थित हैं, फिर भी मैं उन सबमें फँसा हुआ नहीं हूँ, जैसे सूर्य सबको प्रकाशित करता है पर किसी में लिप्त नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान सबके आधार तो हैं, पर सबके आश्रित नहीं हैं। इससे भक्त को यह समझना चाहिए कि भगवान उसके चारों ओर ही नहीं, बल्कि भीतर भी हर क्षण विद्यमान हैं।

श्लोक-5

भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि तुम मेरे इस अद्भुत योग-ऐश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं समस्त प्राणियों का रचयिता हूँ और उनका पालन-पोषण भी करता हूँ, फिर भी वास्तव में वे प्राणी मुझमें स्थित नहीं हैं और न ही मैं उन प्राणियों में स्थित हूँ।

सरल व्याख्या- यह श्लोक भगवान की अचिन्त्य (जो साधारण तर्क से परे हो) शक्ति का वर्णन करता है। यहाँ भगवान एक विरोधाभास समझा रहे हैं।

- **सृष्टि का आधार-** भगवान कहते हैं कि सब कुछ उन्हीं पर टिका है और वे ही सृष्टि के निर्माता और पालक हैं।
- **भगवान की तटस्थता-** इसके बावजूद, वे इस सृष्टि से लिप्त **(Attached)** नहीं हैं। जैसे सूर्य का प्रकाश पूरे संसार में फैला होता है, लेकिन सूर्य उस प्रकाश के गुणों या दोषों से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार भगवान सृष्टि का संचालन करते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं।
- **योग-ऐश्वर्य-** इसे ही 'योग-ऐश्वर्य' कहा गया है। इसका अर्थ है कि भगवान भौतिक जगत के नियमों और बंधनों से ऊपर हैं। वे सृष्टि में रहकर भी सृष्टि से अलग और स्वतंत्र हैं।

यह श्लोक हमें सिखाता है कि भगवान की सत्ता सर्वव्यापी है, लेकिन वे सांसारिक कार्यों या भौतिक प्रकृति से बंधे हुए नहीं हैं।

श्लोक-6

जैसे आकाश में हमेशा रहने वाली सम्पूर्ण वायु सब जगह घूमती है, वैसे ही सब प्राणी मुझमें रहते हैं, ऐसा तू समझ।

श्लोक-7

हे अर्जुन! कल्प के अंत में सब प्राणी मेरी प्रकृति (शक्ति) में लीन हो जाते हैं, और कल्प की शुरुआत में मैं उन्हें फिर से प्रकट करता हूँ।

सरल व्याख्या- 1 कल्प यानि 4 अरब 32 करोड़ वर्ष जो ब्रह्मा का 1 दिन होता है, इतना ही समय ब्रह्मा की 1 रात होती है। ब्रह्मा का 1 दिन और 1 रात मिलाकर 8 अरब 64 करोड़ वर्ष का होता है।

श्लोक-8

मैं अपनी प्रकृति को वश में करके बार-बार इस सम्पूर्ण प्राणिसमूह (भूतग्राम) को उत्पन्न करता हूँ। ये सब प्राणी प्रकृति के वश में होकर असहाय रूप से उत्पन्न होते हैं।

श्लोक-9

हे अर्जुन! ये सृष्टि आदि के सब कर्म मुझे बाँधते नहीं हैं। मैं उन कर्मों में आसक्त न होकर, तटस्थ की तरह स्थित रहता हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान बार-बार सृष्टि का निर्माण करते हैं, सब प्राणियों का पालन करते हैं और प्रलय के समय उन सबका संहार भी करते हैं, परन्तु इन सब कर्मों में भगवान की कोई आसक्ति या स्वार्थ नहीं होता है। वे जैसे निर्लिप्त दर्शक हों'- कर्म करते हुए भी कर्म से बँधते नहीं, जैसे सूर्य सबको प्रकाश और उष्णता देता है पर स्वयं अप्रभावित रहता है, वैसे ही भगवान भी सृष्टि के कामों में तटस्थ हैं। इससे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को भी भगवान का अनुकरण कर कर्त्तव्य करते हुए निर्लिप्त रहना चाहिए।

श्लोक-10

हे अर्जुन! मेरी देखरेख में प्रकृति सम्पूर्ण चर और अचर जगत को उत्पन्न करती रहती है। इसी कारण यह जगत बार-बार सृष्टि और प्रलय को प्राप्त होता रहता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ बताते हैं कि प्रकृति स्वयं काम नहीं करती, बल्कि उनकी आज्ञा और निगरानी में काम करती है। सारी सृष्टि, चल-अचल प्राणी, सब प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, लेकिन उसके पीछे भगवान की प्रेरणा और नियंत्रण है। भगवान ही प्रधान कारण (आधार) हैं, प्रकृति केवल उपकरण है। इसीलिए सृष्टि बार-बार प्रकट और लीन होती रहती है। यह समझकर मनुष्य को अहंकार नहीं करना चाहिए कि "मैं करता हूँ"- असल में सब भगवान की व्यवस्था से ही होता है।

श्लोक-11

मूर्ख लोग मुझे तुच्छ समझते हैं, क्योंकि मैं मानव-शरीर धारण करता हूँ। वे मेरे उस उच्च स्वरूप को नहीं जानते, जो सब प्राणियों का स्वामी और महान ईश्वर है।

श्लोक-12

जिनकी आशाएँ व्यर्थ होती हैं, जिनके कर्म व्यर्थ होते हैं और जिनका ज्ञान भी व्यर्थ होता है, ऐसे अविवेकी लोग राक्षसी और आसुरी मोहिनी प्रकृति को धारण करते हैं।

सरल व्याख्या-जो लोग भगवान को नहीं मानते या उनका अपमान करते हैं, उनकी सारी आशाएँ और प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं। उनके कर्म भी कोई स्थायी फल नहीं देते और उनका ज्ञान भी मिथ्या साबित होता है, क्योंकि वह भगवान से जुड़ा हुआ नहीं होता। ऐसे लोग राक्षसी अर्थात् हिंसक, क्रूर और आसुरी, अहंकारी और स्वार्थी प्रकृति के वश में रहते हैं। उनकी प्रवृत्ति भोग, मद, अभिमान और दूसरों को कष्ट पहुँचाने की होती है। इस तरह वे संसार के मोह में उलझे रहते हैं और परम लक्ष्य (भगवान) से दूर रह जाते हैं।

श्लोक 13-14

परन्तु हे अर्जुन! महात्मा लोग दिव्य प्रकृति को धारण करके, मुझे ही अविनाशी, सबका आदि (मूल) जानकर, एकनिष्ठ मन से मेरी भक्ति करते हैं, वे महात्मा लोग सदा मेरा कीर्तन करते रहते हैं, दृढ़ निश्चय से निरंतर प्रयत्न करते हैं, मुझे भक्ति से नमस्कार करते हैं और निरंतर जुड़े हुए मुझको ही उपासते हैं।

श्लोक-15

कुछ महात्मा लोग ज्ञान-यज्ञ के द्वारा भी मेरी उपासना करते हैं। वे मुझे एक रूप से, अनेक रूपों से और सर्वत्र व्याप्त विश्वरूप में पूजते हैं।

सरल व्याख्या- महात्माओं की भक्ति के अलग-अलग रूप होते हैं। कोई भगवान को एक ही रूप में मानकर उपासना करता है, जैसे केवल कृष्ण या केवल राम। कोई उन्हें अनेक रूपों में मानकर पूजता है, जैसे विष्णु, शिव, दुर्गा आदि सब रूपों में वही भगवान विद्यमान हैं, और कोई उन्हें सर्वव्यापी विश्वरूप मानकर, सब जगह विराजमान समझकर पूजा करता है। ज्ञान-यज्ञ का अर्थ है भगवान को सही ज्ञान से समझकर- सर्वव्यापक, सर्वरूप और सर्वाधार मानकर उनकी भक्ति करना। इस प्रकार भक्त चाहे किसी भी दृष्टि से पूजे, भगवान की ही उपासना होती है।

श्लोक-16

मैं ही वेदों में बताई जाने वाली यज्ञ-क्रिया हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही पितरों को दी जाने वाली स्वधा हूँ, मैं ही औषधि (हवन में डाली जाने वाली सामग्री) हूँ, मैं ही मन्त्र हूँ, मैं ही घृत (घी) हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही आहुति हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ बताते हैं कि यज्ञ में उपयोग होने वाली हर चीज और सम्पूर्ण यज्ञ-प्रक्रिया वास्तव में उनका ही रूप है। यज्ञ में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, वह भी भगवान हैं, जो आहुति (घी आदि) डाली जाती है, वह भी भगवान हैं, जो अग्नि जल रही है, वह भी भगवान हैं। यहाँ तक की यज्ञ करने वाले लोग और उसकी पूरी व्यवस्था भी भगवान से ही प्रकट होती है। इसका भाव यह है कि यज्ञ करने वाले को यह समझना चाहिए कि सब कुछ भगवान ही हैं, तब यज्ञ सच्चे अर्थ में सफल होता है।

श्लोक-17

मैं ही इस सम्पूर्ण जगत का पिता हूँ, माता हूँ, धारण करने वाला (पालनहार) हूँ और पितामह (परदादा) हूँ। मैं ही जानने योग्य तत्त्व हूँ, मैं ही पवित्र करने वाला हूँ, मैं ही ओंकार हूँ और मैं ही ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हूँ।

श्लोक-18

मैं ही सबका परम लक्ष्य हूँ, मैं ही पालनहार हूँ, स्वामी हूँ, सबका साक्षी हूँ। मैं ही सबका निवास (आश्रय) हूँ, शरणस्थान हूँ और सच्चा मित्र हूँ। मैं ही सबका उत्पत्ति-स्थान हूँ, प्रलय (समाप्ति) का कारण हूँ, सबका आधार हूँ, भंडार (सब कुछ) संचित करने वाला हूँ और अविनाशी बीज हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ अपने अनेक रूप बताते हैं ताकि मनुष्य समझे कि जीवन के हर पक्ष में भगवान ही मुख्य कारण हैं।वे कहते हैं-सब जीवों का गन्तव्य (लक्ष्य) मैं हूँ। मैं ही भरण-पोषण करने वाला हूँ। मैं प्रभु (स्वामी) हूँ, और साक्षी हूँ, हर कर्म को देखता हूँ। मैं ही सब प्राणियों का निवास और आश्रय हूँ। संकट में मैं ही सच्चा शरणस्थान और मित्र हूँ। मैं ही सबकी उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ। मैं ही सबका आधार और सब वस्तुओं का भण्डार हूँ, और मैं ही वह अविनाशी बीज हूँ जिससे सम्पूर्ण सृष्टि

बार-बार प्रकट होती है। इसका भाव यह है कि मनुष्य को अपने जीवन में जो कुछ भी चाहिए, आश्रय, मित्रता, सहारा, लक्ष्य-वह सब भगवान में ही है।

श्लोक-19

जो सब जगह व्याप्त है, जिससे हर जगह पहुँचना संभव है, जिसे कोई नहीं रोक सकता और जो हर जगह प्राप्त किया जा सकता है, वही सब कुछ स्वयं भगवान ही हैं।

श्लोक-20

हे अर्जुन! जो काम भगवान ने अपने शरीर में किये, उसे केवल महात्मा या ज्ञानी लोग ही समझ सकते हैं। आम आदमी इसे समझ नहीं पाता।

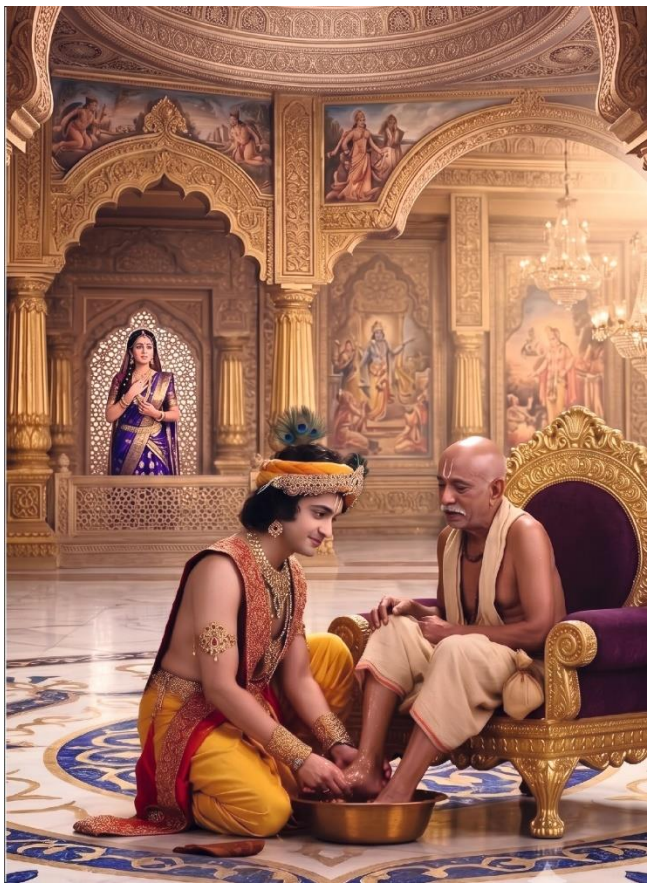
श्लोक-21

जो लोग मेरी भक्ति करने का प्रयास करते हैं, जो मुझे याद करते हैं और मुझमें विश्वास रखते हैं, वे सच में मेरे सबसे अच्छे भक्त हैं।



श्लोक-22

जो लोग केवल मेरे बारे में सोचते हैं और पूरी तरह मुझमें लगे रहते हैं, उनके लिए मैं सब प्रकार की चिंता और सुरक्षा का ध्यान खुद करता हूँ।



श्लोक-23

जो लोग मुझसे प्रेम और भक्ति के साथ मुझे याद करते हैं, मैं भी उनकी भक्ति में हमेशा रहता हूँ। ऐसे लोग योग में लगे रहने से हमेशा शांति और सुख पाते हैं।

श्लोक-24

मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही योग हूँ और मैं ही सब दुखों को नष्ट करने वाला हूँ, जो मनुष्य मुझे भक्ति और विश्वास के साथ अपना मानकर मुझे अपनाता है, मैं उसका जीवन सफल बनाता हूँ।

श्लोक-25

दुनिया में साधु और पुण्य काम करने वाले लोग मरने के बाद भी सुख को प्राप्त होते हैं, लेकिन सभी प्रकार के धर्म और भक्ति में भगवान की भक्ति सबसे उत्तम और सुरक्षित उपाय है।

श्लोक-26

जो लोग भगवान को प्रेम और भक्ति के साथ याद करते हैं, वे चाहे मामूली चीजें जैसे फल, भोजन आदि मुझे अर्पित करें, यह भक्ति भी उन्हें सदा भगवान तक पहुँचाती है।

श्लोक-27

हे अर्जुन! जो भी काम तुम करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ अर्पित करते हो, जो तपस्या करते हो-सब कुछ मुझ भगवान को अर्पित करो।

श्लोक-28

मेरे भक्त लोग, चाहे वे देवता हों या मनुष्य, जो भी मुझे पूरी भक्ति और एकनिष्ठता से याद करते हैं, वे कभी भी नष्ट नहीं होते।

श्लोक-29

हे अर्जुन! हे मेरी भक्ति करने वाले! सभी प्राणी, चाहे अच्छे हों या बुरे, मेरे मन और मेरी भक्ति में अर्पित लोग कभी भी नष्ट नहीं होते।

श्लोक-30

हे अर्जुन! जो व्यक्ति अपना मन और बुद्धि पूरी तरह मुझमें लगा देता है और मुझे ही अपना आश्रय मानता है, वह संदेह रहित सीधे मेरे पास पहुँचता है।

श्लोक-31

जो लोग हमेशा सब प्राणियों की भलाई में लगे रहते हैं और मेरी भक्ति करते हैं, मैं उन्हें मृत्यु और जन्म-मरण के चक्र से बचा लेता हूँ।

श्लोक-32

हे अर्जुन! जो लोग, चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, ब्राह्मण हों या व्यापारी, या यहाँ तक कि साधारण वर्ग (शूद्र) के हों- सब अगर मेरी शरण लेते हैं, तो वे पापों से मुक्त होकर परम लक्ष्य (मुझ) तक पहुँचते हैं।

श्लोक-33

जो लोग धर्म में श्रद्धा और निष्ठा नहीं रखते, या जो भगवान की भक्ति नहीं करते, वे अंत समय में भी मुझे नहीं पा सकते।

श्लोक-34

मेरे प्रति मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मुझे अर्पित करके भोजन करो और मुझे प्रणाम करो। ऐसा करने वाले सच में मेरे प्रिय बन जाते हैं और मैं उन्हें सत्य रूप से अपने पास ले जाता हूँ।



अध्याय-10



श्लोक-1

हे महाबाहो (हे वीर अर्जुन)! मेरे परम वचन को फिर से सुनो, जिसे मैं तुम्हारे हित की कामना से कहूँगा, क्योंकि तुम मुझमें अत्यन्त प्रेम रखते हो।

श्लोक-2

मेरे प्रकट होने को न देवता जानते हैं, न ही महर्षि, क्योंकि मैं सभी प्रकार से देवताओं और महर्षियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ।

सरल व्याख्या-श्रीभगवान ये बता रहे हैं कि उनकी महिमा इतनी व्यापक है कि न देवतागण (देवताओं के स्तर के प्राणीजन), न महर्षि (विशेष ज्ञानी), पूरी तरह से उसे जान सकते हैं, क्योंकि वे संसार के सभी जीवों के आरम्भ, मध्य और अन्त- तीनों का स्त्रोत हैं। इस श्लोक से हमें यह समझना चाहिए कि ईश्वर संसार के हर पक्ष में है- सबके जन्म में, जगत के लीला (क्रियाओं में), और अन्ततः सबके संहार में भी।

श्लोक-3

जो मनुष्य मुझे अजन्मा-अनादि और सम्पूर्ण लोकों का महान ईश्वर जानता है (दृढ़ विश्वास से मानता है), वह संसार में दूसरों की तरह भ्रमित नहीं है और सब पापों से मुक्त हो जाता है।

सरल व्याख्या- ईश्वर अनादि है, जन्म-मरण से परे है, सम्पूर्ण जगत का स्वामी है। इस ज्ञान से मोह और भ्रम समाप्त होते हैं, और मनुष्य पापों से मुक्ति पाता है। विश्वास, भक्ति और आत्म-चिन्तन इस दिशा में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। *प्रतिदिन सुबह या सोने से पहले 2 मिनट ध्यान करके यह श्लोक स्मरण करें। मन ही मन दोहराएँ- ईश्वर अजन्मा है, अनादि है, सबका स्वामी है। मैं उसके हाथों में सुरक्षित हूँ। यह विचार धीरे-धीरे मन को स्थिर और निर्भय बनाएगा।*

श्लोक-4

बुद्धि, ज्ञान, भ्रम से मुक्त होना, क्षमा, सत्य, दम (इन्द्रियों का संयम), शम (मन की शांति), सुख और दुःख, जन्म और मृत्यु, भय और निर्भयता- ये सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।

सरल व्याख्या- इस श्लोक में भगवान कह रहे हैं कि जीवन में जो भी श्रेष्ठ गुण हैं- सही निर्णय करने की शक्ति, सत्य को जानने का ज्ञान, मोह से ऊपर उठने की शक्ति, क्षमा और सहनशीलता, इन्द्रियों का संयम, मन की शांति- ये सब मेरे ही अंश हैं, सिर्फ गुण ही नहीं, बल्कि जीवन की घटनाएँ जैसे सुख-दुःख, जन्म-मरण, भय-अभय- ये भी मेरी ही लीला हैं। इसका अर्थ है कि जो कुछ भी जीवन में अनुभव होता

है- अच्छा, बुरा, आनन्द, पीड़ा- उसका मूल स्त्रोत मैं ही हूँ। इसलिए मनुष्य को इन अवस्थाओं में फँसना नहीं चाहिए, बल्कि समभाव रखकर इन्हें स्वीकार करना चाहिए।

श्लोक-5

अहिंसा, समता, संतुष्टि, तप, दान, यश और अपयश- ये सब भूतों (प्राणियों) की विभिन्न प्रवृत्तियाँ केवल मुझसे ही उत्पन्न होती हैं।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कह रहे हैं कि जो-जो गुण, भाव, प्रवृत्तियाँ मनुष्यों और अन्य जीवों में प्रकट होती हैं, चाहे वे अच्छे हों या बुरे- उनसे कोई अलग-थलग नहीं है। सब कुछ उसी की शक्ति से उत्पन्न हो रहा है। यह विचार मैं और मेरा कार्य में विभाजन को मिटाता है और यह समझ देता है कि हम जिन गुणों को अपने-आप मानते हैं, वे वास्तव में ब्रह्म की विभूतियाँ हैं। इससे अहंकार कम होता है, क्योंकि हम जानने लगते हैं कि ये गुण हम स्वयं नहीं हैं, बल्कि भगवान की देन हैं। यह श्लोक यह प्रेरणा देता है कि गुणों-भावों को पहचानो, लेकिन उनमें फंसे न रहो, क्योंकि उनकी उत्पत्ति और नियंत्रण ईश्वर के हाथ में है।

श्लोक-6

सात महर्षि, उनसे पहले चार सनक आदि महान ऋषि, और चौदह मनु-ये सभी मेरी इच्छा से, मेरे मानस से पैदा हुए हैं, जिनसे संसार की ये सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न हुई है।

सरल व्याख्या- भगवद गीता और पुराणों में सबसे प्रचलित सप्तऋषि ये माने जाते हैं- अत्रि ऋषि, भरद्वाज ऋषि, गौतम ऋषि, जमदग्नि ऋषि, कश्यप ऋषि, वशिष्ठ ऋषि, विश्वामित्र ऋषि। ये सभी ऋषि ब्रह्मा की मानस-संतान माने जाते हैं। इन्होंने वेदों का ज्ञान सुरक्षित रखा और धर्म, समाज और संस्कृति को व्यवस्थित किया। ज्योतिष में भी सप्तऋषियों का महत्व है- आकाश में जो सप्तर्षि तारा मण्डल है, वह इन्हीं सात महर्षियों का प्रतीक माना जाता है।

चार सनकादि ऋषि कौन हैं?

1. **सनक-** सबसे बड़े भाई माने जाते हैं। ज्ञानयोग के मार्गदर्शक। संसार से पूर्ण वैराग्य **(Detachment)** का आदर्श समझाने वाले।
2. **सनन्दन-** भक्ति और ध्यान में विशेष। वेदांत और योग के रहस्यों को समझाने वाले।
3. **सनातन-** सनातन धर्म के गहरे दार्शनिक अर्थ को प्रतिपादित करने वाले। उन्होंने जीवन के शाश्वत सत्य पर बहुत उपदेश दिए।
4. **सनत्कुमार-** चारों में सबसे प्रसिद्ध। छान्दोग्य उपनिषद में वर्णित है कि उन्होंने नारद जी को **"भूमा विद्या"** (परम ज्ञान) का उपदेश दिया।

इन्हें कुमार ब्रह्मचारी कहा जाता है क्योंकि जन्म से ही इनका मन वैराग्य में स्थित रहा, विवाह नहीं किया। ये चारों नित्य कुमार कहलाते हैं, यानि हमेशा बालक जैसे दिखते हैं। इनका पूरा जीवन ज्ञान, ध्यान और वैराग्य में बीता। इन्हें संसार की रचना और विस्तार में रुचि नहीं थी, इसीलिए इन्होंने सृष्टि-विस्तार का काम नहीं किया और तप में लग गए। ये भगवान विष्णु के अनन्य भक्त हैं और उन्होंने ही विष्णु के कुमार

सम्प्रदाय की स्थापना की। भगवान गीता में यह बता रहे हैं कि ये चारों ऋषि भी मेरी मानस-सृष्टि (चेतन) भाव से उत्पन्न हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये संसार में रहते हुए भी आसक्त नहीं होते, केवल आत्मज्ञान में स्थिर रहते हैं। यह हमें यह शिक्षा देते हैं कि भले ही हम संसार में हैं, लेकिन मन को ईश्वर में स्थिर रख सकते हैं और वैराग्यपूर्ण जीवन जी सकते हैं। मनु वे आदिपुरुष हैं जिनसे प्रत्येक मन्वंतर (समय-चक्र) में मानव-जाति की सृष्टि और व्यवस्था होती है।

मनु शब्द के मुख्य रूप से दो प्रमुख अर्थ होते हैं, जो संदर्भ के अनुसार अलग-अलग हैं।

1. **भारतीय पौराणिक कथाओं के अनुसार-** पौराणिक मान्यताओं में मनु को मानव जाति का जनक (प्रथम मनुष्य) माना जाता है। हिंदू धर्मग्रंथों के अनुसार, मनु पृथ्वी पर आने वाले पहले पुरुष थे, जिनसे ही पूरी मानव सभ्यता का विस्तार हुआ। इसीलिए इंसानों को मनुष्य (मनु की संतान) कहा जाता है।
2. **सामान्य अर्थ-** हिंदी भाषा में मनु का अर्थ मन से उत्पन्न या मनन करने वाला भी होता है। यह नाम बहुत ही अर्थपूर्ण माना जाता है क्योंकि यह बुद्धि और चिंतन (सोचने-समझने की शक्ति) को दर्शाता है।

श्लोक-7

श्रीभगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो मनुष्य मेरी इस ऐश्वर्यमयी शक्ति (विभूति) और योग शक्ति को वास्तव में (तत्व से) जान लेता है, वह मेरी अनन्य भक्ति में स्थिर हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

इसका भाव यह है-

सरल व्याख्या- जो व्यक्ति यह समझ लेता है कि इस पूरी सृष्टि में जो भी महान, सुंदर और शक्तिशाली चीजें हैं, वे सब भगवान का ही स्वरूप हैं, उसका मन भगवान में पूरी तरह लग जाता है। ऐसा व्यक्ति कभी डगमगाता नहीं है और वह निश्चल भाव से भगवान की भक्ति में लीन हो जाता है।

श्लोक-8

मैं ही सबका उत्पत्ति-स्त्रोत हूँ, मुझसे सब कुछ चलता है। इसे जानकर, जो शुभ-चित्त वाले बुद्धिमान लोग हैं, समर्पित भाव से मेरी भक्ति करते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान यह कह रहे हैं कि सृष्टि, जीवन, जगत की सभी चीजें उनकी इच्छा और शक्ति से उत्पन्न हुई हैं, न केवल उत्पत्ति, बल्कि सृष्टि का संचालन, नियम, विधि आदि सब कुछ उसी की शक्ति से हो रहा है, जब कोई व्यक्ति इस सत्य को अपने हृदय-मन में स्थिर कर लेता है, कि ईश्वर ही सब कुछ है, और सब कुछ उसी से प्रारंभ होता है। ऐसे ज्ञानी व्यक्ति उस ईश्वर की पूजा, सेवा और भक्ति करते हैं। यह भक्ति सिर्फ बाहरी कर्म नहीं है, बल्कि आंतरिक समर्पण और श्रद्धा से होती है।

श्लोक-9

श्रीभगवान कहते हैं- मेरे में मन लगाने वाले, मेरे में प्राण लगाने वाले (मेरे परायण भक्त) परस्पर मेरे विषय में चर्चा करते हैं, और नित्य मेरा कीर्तन-कथन करते हैं, वे प्रसन्न होते हैं और आनन्द में मग्न रहते हैं।

श्लोक-10

उन लोगों को जो सदा मुझमें लगे रहते हैं, जो मेरा प्रेमपूर्वक भजन करते हैं, उन्हें मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझ तक पहुँचते हैं।

श्लोक-11

उन भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिए मैं उनके अज्ञान-जन्य अन्धकार को अपने आत्मभाव में स्थित करके तेजस्वी ज्ञान-दीपक से नष्ट कर देता हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कह रहे हैं कि जो लोग प्रेमपूर्वक भक्ति करते हैं, उनके मन से अज्ञान का अंधकार मैं स्वयं मिटा देता हूँ। यह ज्ञानदीप केवल बौद्धिक जानकारी नहीं है, बल्कि वह दिव्य अंतर्दृष्टि है जिससे साधक को आत्म-साक्षात्कार होता है।

श्लोक-12

मैं ही सभी प्राणियों का सदा भोगता (संपूर्ण अनुभव करने वाला), कर्ता (सभी कार्यों का करने वाला), आधार (सबकी स्थिरता का स्त्रोत) हूँ, यानि सम्पूर्ण संसार मुझमें ही विद्यमान है।

श्लोक 12-13

अर्जुन ने कहा- हे कृष्ण! आप परम ब्रह्म हैं, परम धाम हैं, पवित्रतम हैं, परमेश्वर हैं, शाश्वत पुरुष हैं, दिव्य हैं, आदि देव हैं, अजन्मा हैं और सर्वव्यापक हैं।

सभी ऋषि, देवर्षि नारद, आसीतो, देवल और व्यास ने आपको इस प्रकार कहा है, और आप स्वयं भी मुझे यही बता रहे हैं।

सरल व्याख्या- अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से उनकी दिव्य सत्ता की पुष्टि की। वह मानते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म, सृष्टि के आदि, शाश्वत, अजन्मा और सर्वव्यापक हैं। ऋषियों और देवर्षियों ने भी उनकी इस दिव्य सत्ता की पुष्टि की है। अर्जुन ने यह स्वीकार किया कि भगवान श्रीकृष्ण ही सृष्टि के कर्ता और पालनहार हैं।

श्लोक-14

अर्जुन ने कहा- हे केशव! आप जो कुछ भी मुझे कहते हैं, मैं उसे सत्य मानता हूँ। क्योंकि हे भगवान, न तो देवता और न ही दानव आपकी वास्तविकता को जान सकते हैं।

श्लोक-15-17

अर्जुन ने कहा- हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं अपनी वास्तविकता को अपनी दिव्य शक्ति से जानते हैं। आप ही सभी प्राणियों के सृष्टा, पालनकर्ता और संहारक हैं।

आप देवताओं के देवता और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। कृपया मुझे अपने दिव्य स्वरूप के विषय में विस्तार से समझाएँ, जिनके द्वारा आप पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं।

हे योगेश्वर! मैं सदा आपके ध्यान में मग्न होकर आपको किस प्रकार जान सकता हूँ? और हे भगवान! मैं आपको किस-किस रूप में ध्यान करूँ?

श्लोक-18

अर्जुन ने कहा- हे जनार्दन! कृपया अपनी दिव्य शक्तियों और विभूतियों का विस्तार से वर्णन करें, क्योंकि आपके अमृत समान वचनों को सुनकर मैं कभी तृप्त नहीं होता।

श्लोक-19

श्रीभगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं- हे कुरुश्रेष्ठ (अर्जुन)! अब मैं तुम्हें अपनी दिव्य विभूतियों (शक्ति और स्वरूपों) के बारे में बताऊँगा, लेकिन केवल मुख्य-मुख्य ही बताऊँगा, क्योंकि मेरी विभूतियों का कोई अंत नहीं है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान अपने विभुति सम्पन्न शक्तियों और स्वरूपों का वर्णन कर रहे हैं। यद्यपि वे पूरी सृष्टि के कण-कण में समाए हुए हैं, लेकिन वह अर्जुन को केवल अपनी मुख्य शक्तियों और स्वरूपों का वर्णन करेंगे, क्योंकि उनकी महिमा इतनी अनंत है कि उसका विस्तार में वर्णन करना संभव नहीं है। यहाँ से आगे के श्लोकों में भगवान अपने उन प्रमुख स्वरूपों को बताते हैं जिनके माध्यम से वे जगत में प्रकट हैं। शास्त्रों में उनके इसी स्वरूप को दिये गये मंत्र द्वारा बताया गया हैं-

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

अर्थ- हे प्रभु! यदि पृथ्वी (धरती) को कागज बना लिया जाए, कल्पवृक्ष की शाखा को कलम बना लिया जाए, समुद्र के जल को स्याही बना लिया जाए और स्वयं माता सरस्वती (जो साक्षात ज्ञान की देवी हैं) अनंत काल तक आपके गुणों को लिखने का प्रयास करें, फिर भी आपके गुणों का अंत नहीं किया जा सकता अर्थात्, आपकी महिमा इतनी अपरंपार है कि उसे शब्दों या लेखनी के माध्यम से पूरी तरह से वर्णित करना असंभव है।

विशेष- यह श्लोक भगवान शिव की अनंत शक्तियों और उनके गुणों की अगाधता के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए किया जाता है। अक्सर पूजा या प्रार्थना के अंत में इसे सुना जा सकता है। यह पहले ही स्पष्ट किया गया हैं कि सत्य स्वरूप परमात्मा एक ही हैं और उसे ऋषियों द्वारा विविध नाम रूप आदि के रूप में व्यक्त किया गया हैं, इसलिए भगवान शिव और भगवान कृष्ण को एक ही मानना चाहिए। यही वेदान्त का अद्वैत सिद्धान्त भी कहता हैं।

श्लोक-20

जो मुझसे जुड़े हुए हैं और मेरी सत्ता में स्थित हैं, उन्हें यह ज्ञात है कि मैं ही सभी प्राणियों के आरम्भ, मध्य और अंत का कारण हूँ।

श्लोक-21

हे अर्जुन! मैं आदित्यों में विष्णु, ज्योतिष्मानों में सूर्य, मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में चंद्रमा हूँ।

श्लोक-22

श्रीभगवान कृष्ण अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं- मैं वेदों में सामवेद हूँ। मैं देवताओं में इन्द्र (वासव) हूँ। मैं इन्द्रियों में मन हूँ और मैं समस्त प्राणियों में चेतना (जीवन शक्ति) हूँ।

सरल व्याख्या- इस श्लोक में भगवान ने बताया है कि जो भी अपने-अपने वर्ग में सबसे श्रेष्ठ या मुख्य तत्व है, वह भगवान का ही स्वरूप है, जैसे मन के बिना इन्द्रियाँ कार्य नहीं कर सकतीं, वैसे ही भगवान इस सृष्टि के आधार हैं।

श्लोक-23

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी विभूतियों (विशेष ऐश्वर्यों) के बारे में बताते हुए कहते हैं- मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ। यक्षों और राक्षसों में मैं कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओं में अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतों में मैं सुमेरु पर्वत हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि संसार में जो भी श्रेष्ठ, शक्तिशाली और तेजस्वी वस्तुएँ या व्यक्तित्व हैं, वे सभी उनकी ही दिव्य शक्तियों का विस्तार हैं।

श्लोक-24

हे पार्थ! पुरोहितों में (देवगुरुओं में) मुझे मुख्य बृहस्पति जानो। सेनापतियों में मैं कार्तिकेय (स्कन्द) हूँ और जलाशयों में (स्थिर जल के विशाल स्रोतों में) मैं सागर हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि ज्ञान (बृहस्पति), युद्ध-कौशल (कार्तिकेय) और विशालता/गहराई (सागर) इन सभी का चरम रूप वे स्वयं ही हैं।

श्लोक-25

भगवान श्रीकृष्ण अपनी श्रेष्ठतम विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं- मैं महर्षियों में भृगु मुनि हूँ। मैं वाणी में 'ओंकार' ऊ हूँ। (समस्त शब्दों और ध्वनियों के मूल में जो एकमात्र अक्षर है, वह मैं ही हूँ।)

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि मैं यज्ञों में जप-यज्ञ हूँ। यज्ञों के कई प्रकार हैं, उनमें से मैं 'जप' रूपी यज्ञ हूँ, क्योंकि इसमें हिंसा नहीं होती और यह सबसे सरल व शुद्ध है और अचल वस्तुओं में मैं हिमालय पर्वत हूँ, जो वस्तुएँ स्थिर हैं, उनमें मैं विशाल और पवित्र हिमालय हूँ। यहाँ श्रीभगवान कह

रहे है कि वे केवल बाहर की बड़ी चीजों में ही नहीं, बल्कि सबसे सूक्ष्म (ॐ, सबसे सरल (जप) और सबसे स्थिर (हिमालय) तत्वों में भी स्वयं को ही विद्यमान बताते हैं।

श्लोक-26

वृक्षों में मैं अश्वत्थ (पीपल) हूँ, देवर्षियों में मैं नारद हूँ, गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ, और सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ।' भगवान श्री कृष्ण इस श्लोक में अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करते हैं-

1. **वृक्षों में पीपल-** पीपल का वृक्ष भारतीय संस्कृति में अत्यंत पवित्र माना जाता है। यह दीर्घायु, छांव देने वाला और जीवनदायिनी माना जाता है। भगवान श्री कृष्ण ने इस वृक्ष को अपनी दिव्य उपस्थिति के रूप में प्रस्तुत किया है।
2. **देवर्षियों में नारद-** नारद मुनि, देवताओं के प्रमुख ऋषि माने जाते हैं। वे भगवान के परम भक्त और भक्ति के प्रचारक हैं। भगवान श्री कृष्ण ने नारद को अपनी दिव्य उपस्थिति के रूप में प्रस्तुत किया है।
3. **गन्धर्वों में चित्ररथ-** चित्ररथ, गन्धर्वों के प्रमुख गायक और संगीतज्ञ माने जाते हैं। वे दिव्य संगीत और गायन में निपुण हैं। भगवान श्री कृष्ण ने चित्ररथ को अपनी दिव्य उपस्थिति के रूप में प्रस्तुत किया है।
4. **सिद्धों में कपिल मुनि-** कपिल मुनि, सिद्धों के प्रमुख माने जाते हैं। वे सांख्य दर्शन के प्रवर्तक और आत्मज्ञान के प्रचारक हैं। भगवान श्री कृष्ण ने कपिल मुनि को अपनी दिव्य उपस्थिति के रूप में प्रस्तुत किया है।

श्लोक-27

घोड़ों में मुझे अमृत के साथ उत्पन्न हुए उच्चैःश्रवा को जानो। हाथियों में मैं ऐरावत हूँ, और मनुष्यों में मैं राजा हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि जो भी अपनी प्रजाति में सबसे विशिष्ट, दिव्य और नेतृत्व करने वाला है, वह उनकी ही महिमा का विस्तार है।

श्लोक-28

मैं शस्त्रों में वज्र हूँ। गाय में मैं कामधेनु हूँ। मैं संतानों को उत्पन्न करने वाला कामदेव हूँ, और सर्पों में मैं वासुकी नाग हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि चाहे वह शक्ति का प्रतीक (वज्र) हो, इच्छाओं को पूर्ण करने वाली शक्ति (कामधेनु) हो अथवा जीवन की उत्पत्ति का आधार (कामदेव) हो, सब कुछ उन्हीं का अंश है।

श्लोक-29

मैं नागों में 'अनन्त' (शेषनाग) हूँ। मैं जलचरों का अधिपति 'वरुण' हूँ। पितरों में मैं अर्यमा हूँ और शासन करने वालों में मैं यमराज हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि जो भी संसार में आधार प्रदान करने वाले (शेषनाग), जल के स्वामी (वरुण), पूर्वजों के प्रतिनिधि (अर्यमा) या न्याय और अनुशासन के प्रतीक (यमराज) हैं, वे सब उन्हीं की दिव्य शक्ति का प्रदर्शन हैं।

श्लोक-30

मैं दैत्यों में 'प्रहलाद' हूँ। गणना करने वालों में मैं 'काल' (समय) हूँ। पशुओं में मैं सिंह हूँ। पक्षियों में मैं गरुड़ हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि वे केवल देवताओं में ही नहीं, बल्कि दैत्यों में भी भक्त (प्रहलाद), विनाशक समय (काल), पशुओं के राजा (सिंह) और पक्षियों के राजा (गरुड़) के रूप में विद्यमान हैं।

श्लोक-31

मैं पवित्र करने वालों में पवन (वायु) हूँ। मैं शस्त्रधारियों में श्रीराम हूँ। मैं मछलियों (जलचरों) में मकर (मगरमच्छ) हूँ और नदियों में मैं जाह्नवी (गंगा) हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि भगवान यह स्पष्ट कर रहे हैं कि वे वायु जैसी पवित्रता, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम जैसा शौर्य, मकर जैसी शक्ति और गंगा जैसी पावनता के स्रोत हैं।

श्लोक-32

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य मैं हूँ। विद्या में मैं अध्यात्मविद्या हूँ और वाद-विवाद करने वालों में मैं तर्कयुक्त वाद हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि वे ही सम्पूर्ण सृष्टि के सर्जक (आदि), पालनकर्ता (मध्य) और संहारक (अन्त) हैं। इसका अर्थ है कि जो कुछ भी इस संसार में होता है, वह सब भगवान की लीला और नियंत्रण में है। वे विद्याओं में अध्यात्मविद्या हैं। बहुत प्रकार की विद्या होती हैं- लौकिक, भौतिक, वैज्ञानिक, कला इत्यादि, परन्तु अध्यात्मविद्या (आत्मज्ञान) सर्वोत्तम है क्योंकि यह हमें आत्मा और परमात्मा का ज्ञान देती है और मोक्ष की ओर ले जाती है। मैं स्वयं इस सर्वोच्च विद्या के रूप में हूँ। वे वाद-विवाद में सत्य वाद हैं। वाद का अर्थ है चर्चा। लोग तर्क-वितर्क करते हैं, परंतु सभी वाद सही नहीं होते। मैं सत्य और धर्म पर आधारित तर्क हूँ- वह तर्क जो ज्ञान बढ़ाए और समाधान दे, न कि केवल विवाद पैदा करे।

श्लोक-33

अक्षरों में मैं 'अ' हूँ। समासों में मैं द्वंद्व समास हूँ। मैं अक्षयकाल हूँ और मैं ही सब ओर मुँह करके सृष्टि का धारण करने वाला धाता हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि अक्षरों में 'अ' पहला वर्ण है और सभी वर्णों का मूल है। इसका अर्थ है कि भगवान सभी ध्वनियों और वाणियों के मूल स्त्रोत हैं। वे समासों में द्वंद्व समास हैं। द्वंद्व समास में दो शब्द बराबरी से मिलकर नया अर्थ देते हैं (जैसे माता-पिता, दिन-रात)। मैं वह संतुलन हूँ जो द्वंद्व में भी सामंजस्य बनाता है। वे अक्षयकाल हैं। यहाँ भगवान स्वयं को अविनाशी समय बताते हैं। समय सबको नष्ट कर देता है, लेकिन भगवान के रूप में समय स्वयं कभी समाप्त नहीं होता। भगवान कहते हैं कि वे सृष्टि को धारण करते हैं। इसका अर्थ है कि जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह भगवान के द्वारा ही सुरक्षित और संचालित है।

श्लोक-34

मैं सबको हरने वाला मृत्यु हूँ, और उत्पन्न होने वालों का जन्म हूँ। स्त्रियों में मैं कीर्ति, श्री (लक्ष्मी), वाणी (सरस्वती), स्मृति, मेधा, धैर्य और क्षमा हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि मृत्यु सबको हर लेने वाली है- धन, शरीर, संबंध, सब कुछ। भगवान कहते हैं कि वह मृत्यु भी मैं ही हूँ। यह हमें याद दिलाता है कि मृत्यु से डरने की जगह उसे समझना चाहिए यह भी भगवान का रूप है, जो कुछ भी भविष्य में जन्म लेता है, उसका जन्म भी भगवान के कारण होता है। भगवान ही जीवन का कारण हैं।

स्त्रियों में सात दिव्य गुण होते हैं-

1. **कीर्ति-** यानि अच्छा नाम और यश
2. **श्री-** यानि लक्ष्मी, ऐश्वर्य और सौंदर्य
3. **वाक्-** यानि मधुर वाणी और ज्ञान का प्रवाह
4. **स्मृति-** यानि सही बात याद रखने की शक्ति
5. **मेधा-** यानि बुद्धिमत्ता और विवेक
6. **धैर्य-** यानि कठिनाइयों में भी स्थिर रहना
7. **क्षमा-** यानि दूसरों की गलती को माफ करना

ये सभी गुण भगवान के दिव्य स्वरूप हैं और स्त्रियों के माध्यम से संसार में प्रकट होते हैं।

श्लोक-35

सामवेद के गीतों में मैं बृहत्साम हूँ। छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूँ। महीनों में मैं मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में मैं वसन्त ऋतु हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि सामवेद में कई प्रकार के गीत हैं, जिनमें बृहत्साम सबसे श्रेष्ठ और मधुर माना जाता है। भगवान कहते हैं कि मैं उस सर्वोत्तम गीत के रूप में प्रकट हूँ। गायत्री सबसे पवित्र और प्रभावशाली छन्द है। भगवान कहते हैं कि मैं वही गायत्री हूँ, जो सभी मंत्रों की जननी है।मार्गशीर्ष (नवम्बर-दिसम्बर) मास को सबसे शुभ मास माना जाता है। इस मास में भगवान विष्णु की पूजा का विशेष महत्व है। भगवान कहते हैं कि महीनों में मैं मार्गशीर्ष हूँ।वसन्त ऋतु को ऋतुओं का राजा

माना जाता है। यह फूलों से भरी, सुखद और जीवनदायिनी ऋतु होती है। भगवान कहते हैं कि ऋतुओं में मैं वसन्त हूँ, जो आनंद और सौंदर्य का प्रतीक है।

श्लोक-36

छल करने वालों में मैं जुआ हूँ। प्रभावशाली पुरुषों का प्रभाव मैं हूँ। मैं जीतने वालों का विजय हूँ, मैं निश्चय करने वालों का निश्चय हूँ और सत्त्वगुणी व्यक्तियों का सत्त्व मैं हूँ।

श्लोक-37

वृष्णिवंशियों (यदुवंशियो) में वासुदेव तेरा सखा, पांडवों में धनंजय (तू), मुनियों में वेदव्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ।

श्लोक-38

दमन करने वालों में दण्ड-नीति (शासन का उपाय) मैं हूँ और विजय चाहने वालों में नीति मैं हूँ। गोपनीय भावों में मौन हूँ और ज्ञानवानों में ज्ञान मैं हूँ।

श्लोक-39

हे अर्जुन! जितने भी चर-अचर प्राणी हैं, उन सबका बीज भी मैं ही हूँ। ऐसा कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना रह सके।

श्लोक-40

हे परन्तप अर्जुन! मेरी इन दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। मैंने यह जो कुछ कहा है, वह मेरी विभूतियों का केवल संक्षेप में कहा हुआ विस्तार है।

श्लोक-41

हे अर्जुन! जो भी शुद्ध, शोभायुक्त या अत्यन्त सामथर्यशाली, प्रभावशाली वस्तु या व्यक्ति है, उसे तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न जान।

श्लोक-42

हे अर्जुन! इन बहुत-सी विभूतियों के जानने से तेरे लिए क्या प्रयोजन है? मैं तो अपने एक अंश मात्र से ही इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करके स्थित हूँ।

सरल व्याख्या- अब क्या जानना बाकी है? श्रीभगवान कह रहे हैं कि मैंने तुम्हें अपनी बहुत-सी विभूतियाँ बता दीं। लेकिन इससे भी अधिक जानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मेरा सम्पूर्ण रूप अनन्त है। यह सबसे गहरा रहस्य है। भगवान कहते हैं कि मैं अपने एक छोटे से अंश से ही पूरे जगत को धारण करता हूँ। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, ग्रह, नक्षत्र, प्राणी, देवता- सब केवल भगवान के एक अंश से चल रहे हैं। उनका पूर्ण स्वरूप इससे भी असीम, अनन्त और अगम्य है। भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं कि इस

सम्पूर्ण सृष्टि का जो एक परम कारण है, जो यह सब धारण करता है, वह मैं हूँ, बस तू उसी में मन लगाओ। यही भक्ति का सार है- भगवान को सर्वाधार मानकर उनके शरणागत होना।



अध्याय-11



श्लोक-1

अर्जुन बोले- हे श्रीकृष्ण! जो आपने मुझ पर अनुग्रह करने की दृष्टि से अत्यंत गूढ़ आध्यात्मिक विषय कहा है, और जो आपने वचन द्वारा बताया है, उसी से मेरा यह भ्रम छठ गया है।

श्लोक-2

हे कमल-नयन श्रीकृष्ण! मैंने आपसे समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय को विस्तार से सुना है और आपका अविनाशी महात्म्य भी सुना है।

श्लोक-3

हे परमेश्वर! हे पुरुषोत्तम! आपने अपने विषय में जो कुछ कहा है वह सब सत्य है। अब मैं आपके उस ऐश्वर्ययुक्त रूप को देखना चाहता हूँ।

श्लोक-4

हे प्रभु! यदि आप मुझे यह रूप देखने में समर्थ समझते हैं, तो हे योगेश्वर! आप मुझे अपना वह अविनाशी स्वरूप दिखाइए।

श्लोक-5

श्रीभगवान बोले- हे पार्थ! अब तू मेरे सैकड़ों और हजारों प्रकार के, नाना प्रकार के दिव्य रूपों को, नाना रंगों और आकृतियों सहित देख।

श्लोक-6

श्रीभगवान कहते हैं- हे भारत! आदित्यों को देखो, वसुओं को देखो, रुद्रों को देखो, अश्विनीकुमारों को देखो और मरुतों को भी देखो। और बहुत-से पहले कभी न देखे हुए अद्‌भुत रूपों को भी देखो।

सरल व्याख्या- आदित्य का अर्थ है सूर्य के बारह रूप। आठ वसु देवता। ग्यारह रुद्र। अश्विनीकुमार (स्वर्ग के चिकित्सक, दिव्य वैद्य)। 49 मरुतगण (वायु के देवता), जो तूफान और शक्ति के प्रतीक हैं।

सूर्य के द्वादश (12) आदित्य और उनकी सरल व्याख्या

क्रम	नाम	सरल सरल व्याख्या
1	**विवस्वान**	यह संसार को प्रकाश देने वाले और जीवन का आधार हैं।
2	**अर्यमा**	ये न्याय और नियमों के देवता हैं, जो मर्यादा का पालन कराते हैं।
3	**पूषा**	ये पोषक (Nutritious) हैं, जो पृथ्वी पर वनस्पति और जीवन को पुष्ट करते हैं।
4	**त्वष्टा**	ये शिल्पकार हैं, जो प्रकृति की सुंदरता और निर्माण की क्षमता को दर्शाते हैं।
5	**सविता**	इनका अर्थ है 'प्रेरक'। ये हमें कर्म करने और सृजन की शक्ति देते हैं।
6	**भग**	ये ऐश्वर्य और सौभाग्य प्रदान करने वाले देव हैं।
7	**धाता**	ये धारण करने वाले हैं, जो सृष्टि को व्यवस्थित रखते हैं।
8	**विधाता**	ये भाग्य और विधान बनाने वाले हैं, जो कर्मों के अनुसार फल देते हैं।
9	**वरुण**	ये जल के स्वामी हैं, जो पूरे ब्रह्मांड की शुद्धि करते हैं।
10	**मित्र**	ये मित्रता और सहयोग के प्रतीक हैं, जो संसार में संतुलन बनाए रखते हैं।
11	**इन्द्र**	ये देवताओं के राजा हैं, जो बुराई पर अच्छाई की विजय के प्रतीक हैं।
12	**अंशुमान**	ये किरणों के स्वामी हैं, जो अपने प्रकाश से अंधकार को मिटाते हैं।

इन बारह रूपों का महत्व

- **समय का चक्र-** ये बारह आदित्य वर्ष के बारह महीनों से जुड़े हुए हैं। ऐसा माना जाता है कि सूर्य हर महीने अपनी ऊर्जा और रूप में परिवर्तन करते हैं, जिससे ऋतुएँ बदलती हैं।
- **ऊर्जा का स्रोत-** सूर्य के ये बारह रूप हमें सिखाते हैं कि प्रकृति का हर कार्य—चाहे वह पोषण हो, न्याय हो, निर्माण हो या मित्रता—सूर्य की ही अलग-अलग ऊर्जाओं से संचालित होता है।
- **आध्यात्मिक लाभ-** हिंदू धर्म में 'सूर्य नमस्कार' के दौरान भी इन बारह नामों का जाप किया जाता है, जिससे शरीर और मन दोनों को ऊर्जा और आरोग्यता प्राप्त होती है।

संक्षेप में- सूर्य का अर्थ केवल एक जलता हुआ गोला नहीं है, बल्कि वे एक ऐसी दिव्य शक्ति हैं जो जीवन को हर स्तर पर—प्रकाश से लेकर भाग्य तक—नियंत्रित और संचालित करते हैं।

हिंदू धर्म शास्त्रों (पुराणों) में **'अष्ट वसु'** का वर्णन मिलता है, यानी कुल **आठ (8)** वसु हैं।

वसुओं को देवताओं की एक विशेष श्रेणी माना गया है जो प्रकृति के विभिन्न तत्वों के प्रतीक हैं और सृष्टि के संचालन में सहायक होते हैं। इन्हें 'अष्ट वसु' कहा जाता है।

अष्ट वसु के नाम और उनकी सरल सरल व्याख्या

ये आठों वसु मिलकर प्रकृति और संसार की व्यवस्था को बनाए रखते हैं:

क्रम	नाम	सरल सरल व्याख्या (प्रतीक)
1	**धर**	ये पृथ्वी के प्रतीक हैं, जो सबका आधार है।
2	**अनल**	यह अग्नि (Agni) का प्रतीक है, जो ऊर्जा और परिवर्तन लाता है।
3	**अनिल**	यह वायु (Air) का प्रतीक है, जो जीवन के लिए प्राण-शक्ति है।
4	**आप**	यह जल (Water) का प्रतीक है, जो जीवन और स्वच्छता का आधार है।
5	**प्रत्युष**	यह प्रकाश या भोर (Dawn) का प्रतीक है।
6	**प्रभास**	यह आकाश का प्रतीक है।
7	**सोम**	यह चंद्रमा (Moon) का प्रतीक है, जो मन और शांति को दर्शाता है।
8	**ध्रुव**	यह स्थिरता (Constancy) का प्रतीक है, जो ध्रुवतारे की तरह अडिग है।

संक्षिप्त जानकारी

- **महत्व:** ये अष्ट वसु इंद्र देव के सहायक माने जाते हैं। महाभारत की कथा के अनुसार, गंगा और राजा शांतनु के आठ पुत्र 'अष्ट वसु' ही थे, जिन्हें माता गंगा ने अपने श्राप से मुक्ति दिलाने के लिए जन्म दिया था।
- **सृष्टि में भूमिका:** ये वसु पंचतत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) और प्रकाश के विभिन्न रूपों को दर्शाते हैं। वे देवताओं के 'गण' हैं जो संसार में व्यवस्था (Order) और संतुलन (Balance) बनाए रखने में मदद करते हैं।

हिंदू धर्म शास्त्रों में भगवान शिव के **ग्यारह (11) रुद्र** स्वरूपों का वर्णन मिलता है। इन्हें 'एकादश रुद्र' कहा जाता है। ये भगवान शिव की ही विभिन्न शक्तियाँ हैं, जो संसार के दुखों को नष्ट करने और बुराई का अंत करने के लिए जानी जाती हैं।

माना जाता है कि ये ग्यारह रुद्र जगत की रक्षा के लिए ग्यारह अलग-अलग दिशाओं और तत्त्वों में स्थित हैं। यहाँ उनके नाम और सरल सरल व्याख्या दी गई है:

ग्यारह रुद्र (एकादश रुद्र) और उनकी सरल व्याख्या

क्रम	नाम	सरल सरल व्याख्या
1	**कपाली**	यह शिव का वह रूप है जो कपाल (खोपड़ी) धारण करते हैं, अहंकार के विनाश का प्रतीक।

2	**पिङ्गल**	इनका अर्थ है भूरे या सुनहरे रंग के, जो ज्ञान के प्रकाश को दर्शाते हैं।
3	**भीम**	यह रुद्र का विशाल और शक्तिशाली स्वरूप है, जो भय को मिटाता है।
4	**विरूपाक्ष**	जिनकी आँखें साधारण नहीं हैं (त्रिनेत्र), जो सत्य और असत्य में अंतर करते हैं।
5	**विलोहित**	यह विशेष लाल रंग के हैं, जो ऊर्जा और रक्त के संचार के प्रतीक हैं।
6	**शास्ता**	यह वह रूप है जो धर्म और अनुशासन का मार्ग दिखाते हैं।
7	**अजपाद**	जो अजन्मे हैं और जिनकी कोई सीमा नहीं है।
8	**अहिर्बुध्न्य**	यह गहराई और छिपे हुए ज्ञान के प्रतीक हैं।
9	**शम्भु**	जो कल्याण और शांति प्रदान करने वाले हैं।
10	**चण्ड**	जो क्रोधित और तीव्र हैं, बुराई को नष्ट करने वाले।
11	**भव**	यह सृष्टि के अस्तित्व का प्रतीक हैं, जो जीवन का आधार हैं।

ग्यारह रुद्रों का महत्व

- **सृष्टि का संतुलन:** ये ग्यारह रुद्र ग्यारह अलग-अलग इंद्रियों (5 ज्ञानेंद्रियां + 5 कर्मेंद्रियां + 1 मन) के अधिष्ठाता माने जाते हैं। इन्हें वश में करने या इन पर नियंत्रण पाने के लिए रुद्रों की साधना की जाती है।
- **कल्याणकारी रूप:** हालांकि रुद्र का नाम सुनते ही अक्सर विनाश की छवि आती है, लेकिन वास्तव में ये 'दुःख का नाश करने वाले' हैं। जब भी संसार में अधर्म बढ़ता है, ये रुद्र स्वरूप मानवता की रक्षा करते हैं।
- **रुद्राभिषेक:** भगवान शिव की पूजा में 'रुद्राभिषेक' का विशेष महत्व है, जहाँ इन्हीं एकादश रुद्रों का आह्वान करके शांति, समृद्धि और आरोग्यता की कामना की जाती है।

संक्षेप में: एकादश रुद्र शिव के वे स्वरूप हैं जो हमें हमारे मन और इंद्रियों पर संयम रखना सिखाते हैं और हर तरह के नकारात्मक विचारों का अंत करके जीवन में सकारात्मक ऊर्जा का संचार करते हैं।

हिंदू धर्म ग्रंथों के अनुसार **अश्विनी कुमारों की संख्या दो (2)** है।

इन्हें जुड़वां भाई माना जाता है और वे देवताओं के चिकित्सक (Physicians of the Gods) कहलाते हैं। यहाँ उनकी संक्षिप्त और सरल सरल व्याख्या दी गई है:

दो अश्विनी कुमार: नाम और अर्थ

नाम	सरल सरल व्याख्या
नासत्य	'नासत्य' का अर्थ है जो कभी असत्य न बोले (सत्यनिष्ठ)। ये स्वास्थ्य और रोगों को दूर करने वाले हैं।
दस्र	'दस्र' का अर्थ है जो चमत्कारी या अद्भुत कार्य करने में सक्षम हों। ये शल्य चिकित्सा (Surgery) और उपचार के विशेषज्ञ हैं।

अश्विनी कुमारों के बारे में मुख्य बातें:

1. **देव चिकित्सक:** इन्हें स्वर्ग का सबसे कुशल डॉक्टर माना जाता है। कहा जाता है कि उन्होंने मृत व्यक्तियों को पुनर्जीवित करने और बीमार देवताओं को स्वस्थ करने के कई चमत्कार किए हैं।
2. **सूर्य देव की संतान:** ये सूर्य देव और उनकी पत्नी संज्ञा (छाया के रूप में) के पुत्र हैं।
3. **शक्ति और सुंदरता:** वे अत्यंत सुंदर, तेजस्वी और घोड़े के मुख वाले (कई पुराणों के अनुसार) या घोड़ों पर सवार रहने वाले माने जाते हैं, इसीलिए उन्हें 'अश्विनी' (अश्व यानी घोड़े से संबंधित) कहा जाता है।
4. **उपचार की शक्ति:** आयुर्वेद में चिकित्सा की शुरुआत और आरोग्य (अच्छे स्वास्थ्य) के लिए अश्विनी कुमारों का स्मरण करना बहुत शुभ माना जाता है।

संक्षेप में: अश्विनी कुमार **स्वास्थ्य, संजीवनी शक्ति और चिकित्सा विज्ञान** के प्रतीक हैं। किसी भी असाध्य रोग को दूर करने या उत्तम स्वास्थ्य पाने के लिए वे पूजनीय हैं।

हिंदू धर्म शास्त्रों में **मरुत (Maruts)** का अर्थ है 'हवा' या 'वायु के देवता'। इन्हें भगवान इंद्र का सहयोगी और बलशाली सेना माना जाता है। पुराणों में मरुतगणों की संख्या **49** बताई गई है।

मरुतगणों की सरल सरल व्याख्या

पौराणिक कथाओं के अनुसार, जब दिति (अदिति की बहन) के गर्भ से इंद्र के वध के लिए पुत्र उत्पन्न होने वाला था, तो इंद्र ने वज्र से उस गर्भ के **49 टुकड़े** कर दिए। वे टुकड़े मरे नहीं, बल्कि भगवान शिव की कृपा से 49 अलग-अलग शक्तिशाली देवताओं में बदल गए, जिन्हें 'मरुतगण' कहा गया।

यहाँ मरुतगणों की मुख्य विशेषताएं और अर्थ दिए गए हैं:

- **अर्थ:** मरुत का अर्थ है **'जो गतिमान है'** (गतिशील वायु)।
- **स्वरूप:** ये वायु के झोंकों के समान अत्यंत तीव्र, बलवान और फुर्तीले माने जाते हैं।
- **कार्य:** इनका मुख्य कार्य प्रकृति में संतुलन बनाए रखना, वर्षा लाना, धूल भरी आंधी उड़ाना और इंद्र की सेना के रूप में राक्षसों का सामना करना है।

- **प्रतीक:** ये 49 मरुतगण मानव शरीर के **49 प्रकार के वायु प्रवाह (प्राण-ऊर्जा)** का प्रतीक भी माने जाते हैं।

ये 49 मरुतगण क्या दर्शाते हैं?

विशेषता	सरल सरल व्याख्या
बल (Strength)	मरुतगण अटूट शक्ति और साहस का प्रतीक हैं।
गति (Speed)	ये हवा की गति से चलते हैं, जो जीवन में निरंतर प्रगति का संदेश देते हैं।
परिवर्तन (Change)	जैसे हवा का रुख बदलता है, ये मरुतगण सृष्टि में बदलाव और गतिशीलता लाते हैं।
सहयोग (Unity)	ये हमेशा समूह में कार्य करते हैं, जो हमें 'एकता में बल है' का पाठ पढ़ाते हैं।

सारांश

मरुतगण केवल वायु के देवता नहीं हैं, बल्कि वे **अदृश्य ऊर्जा के वे स्रोत हैं जो ब्रह्मांड को चलायमान रखते हैं।** जिस प्रकार शरीर के बिना प्राण (वायु) के जीवन संभव नहीं, उसी प्रकार प्रकृति में मरुतगणों के बिना वर्षा, आंधी और जीवन चक्र का चलना कठिन है।

श्लोक-7

श्रीभगवान कहते हैं- हे गुडाकेश! अब मेरे इस शरीर में एक ही स्थान पर यह सम्पूर्ण जगत-चर और अचर (चलने वाले और न चलने वाले) देखो, और जो कुछ भी और देखना चाहते हो, वह भी सब देखो।

सरल व्याख्या- यह श्लोक साधक के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह स्पष्ट करता है कि सारा संसार भगवान के भीतर ही स्थित है। यह अनुभव साधक को अद्वैत भाव में स्थिर करता है, जब वह देखता है कि न कुछ बाहर है न कुछ अलग है, सब एक ही विराट सत्ता में है। इससे भक्त के भीतर अद्भुत श्रद्धा और समर्पण जागता है।



श्लोक-8

श्रीभगवान कहते हैं- परन्तु तू मुझे इन साधारण नेत्रों से नहीं देख सकता। इसलिए मैं तुझे दिव्य दृष्टि देता हूँ- अब तू मेरे इस ऐश्वर्ययुक्त योग को देख।

श्लोक-9

संजय बोले- हे राजन् धृतराष्ट्र! इस प्रकार कहकर महायोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना परम ऐश्वर्ययुक्त विराट रूप दिखाया।

सरल व्याख्या- यहाँ से विराट रूप का वास्तविक वर्णन शुरू होता है। भगवान को महायोगेश्वर कहा गया है, क्योंकि वे ही योग के स्वामी हैं और वे अपनी योगमाया से असंभव को संभव कर सकते हैं। यह रूप कोई साधारण रूप नहीं था, बल्कि परम दिव्य और सर्व ऐश्वर्यों से सम्पन्न रूप था। संजय, जो दिव्य दृष्टि से युद्ध का दृश्य देख रहे हैं, धृतराष्ट्र को यह अद्भुत प्रसंग सुनाते हैं।

श्लोक 10-11

अर्जुन ने श्री भगवान का परम दिव्य रूप देखा जिसमें अनेक मुख, नेत्र, अद्भुत दृश्य, दिव्य आभूषण और अनेक दिव्य शस्त्र हैं और जिनके शरीर में दिव्य माला और वस्त्र हैं, जो दिव्य गंध

से सुगंधित है, जो सर्व आश्चर्य से युक्त है, जो अनन्त है और जिसके मुख सर्वत्र फैले हुए हैं, ऐसा परम रूप अर्जुन ने देखा।

श्लोक-12

यदि आकाश में एक साथ हजारों सूर्य एक साथ उदित हो जाएं, तो भी उनका प्रकाश उस महात्मा विराट रूप परमात्मा के प्रकाश के समान शायद ही हो।

श्लोक-13

उस समय अर्जुन ने देवों के देव भगवान के शरीर में एक जगह स्थित अनेक प्रकार के विभागों में विभक्त सम्पूर्ण जगत को देखा।

श्लोक-14

उस समय अर्जुन ने भगवान के विराट रूप को देखकर अत्यधिक विस्मय और श्रद्धा के साथ उनका शीष से प्रणाम किया और हाथ जोड़कर यह वाक्य कहा।

श्लोक-15

हे देव! मैं आपके शरीर में सभी देवताओं और प्राणियों के समूहों को देख रहा हूँ। मैंने ब्रह्मा को कमलासन पर बैठे हुए, महादेव को, सभी ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देखता हूँ।

श्लोक-16

हे भगवान! मैं आपके शरीर में अनगिनत हाथ, पेट, मुँह और नेत्र देख रहा हूँ। आप सर्वत्र अनन्त रूप में व्याप्त हैं। मैं न तो आपके रूप का अन्त देख पा रहा हूँ, न मध्य और न ही आरम्भ। आप विश्व के स्वामी, विश्व-रूप हैं।

श्लोक-17

मैं आपको मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रधारण किये हुए तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज का पुंज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान ज्योतिर्मय, देखने में अति कठिन और अप्रमेयस्वरूप सब ओर से देखता हूँ।

श्लोक-18

हे भगवान! आप अक्षय (परमब्रह्म परमात्मा), वेदों द्वारा जानने योग्य, सम्पूर्ण सृष्टि के परम आश्रय, अव्यय, शाश्वत धर्म के रक्षक, सनातन और पुरुष हैं-यही मेरा मत है।

श्लोक-19

हे भगवान! मैं आपको अनादि, मध्य और अन्तहीन, अनन्त शक्ति और अनन्त बाहुओं वाला, चन्द्रमा और सूर्य के समान नेत्रों वाला, दीप्तिमान मुख से अग्नि निकलते हुए और अपने तेज से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को तपाने वाला देख रहा हूँ।

श्लोक-20

हे महात्मन! मैं आपके इस अद्‌भुत और उग्र रूप को देखकर यह देख रहा हूँ कि आकाश और पृथ्वी के बीच का यह अंतराल और समस्त दिशाएँ केवल आपसे ही व्याप्त हैं। यह रूप देखकर सम्पूर्ण त्रिलोक भयभीत हो रहा है।

श्लोक-21

हे भगवान! मैं देख रहा हूँ कि देवताओं के समूह आपके विराट रूप में प्रवेश कर रहे हैं। कुछ भयभीत होकर, हाथ जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों के समूह स्वस्ति वाचनकर, अनेक स्तुतियों से आपकी स्तुति कर रहे हैं।

श्लोक-22

हे भगवान! मैं देख रहा हूँ कि रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, अश्विनीकुमार, मरुत, उष्मपाश, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण सभी आपको विस्मय (आश्चर्य) से देख रहे हैं।

श्लोक-23

हे महाबाहो! मैं आपके विराट रूप में अनेक मुख, नेत्र, हाथ, पैर, पेट और भयंकर दांत देख रहा हूँ। यह रूप देखकर सम्पूर्ण लोक भयभीत हो रहे हैं, और मैं भी उसी प्रकार भयभीत हूँ।

श्लोक-24

हे भगवान विष्णु! आपके आकाश तक फैले, दीप्तिमान और बहुरंगी रूप, खुला हुआ मुख एवं बड़ी चमकती आँखों को देखकर, मेरा मन विचलित हो गया है तथा मैं अपने मन को शांत और स्थिर नहीं रख पा रहा हूँ।

श्लोक-25

हे देवेश! हे जगत के निवास! आपके विकराल और भयंकर मुखों को देखकर, जो कालाग्नि के समान प्रज्वलित हैं, मैं दिशाओं को नहीं जानता और न ही मुझे कोई शांति प्राप्त हो रही है। कृपया मुझ पर कृपा करें।

श्लोक 26-27

हे भगवान! मैं देख रहा हूँ कि धृतराष्ट्र के सभी पुत्र, उनके साथ पृथ्वी के राजा, भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र कर्ण और हमारे प्रमुख योद्धा भी आपके भयंकर मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

हे भगवान! मैं देख रहा हूँ कि आपके मुखों में वे सभी तेजी से प्रवेश कर रहे हैं, जिनके दाँत भयंकर और भयावह हैं। कुछ लोग आपके दाँतों के बीच फँसे हुए हैं और उनके उत्तम अंग चूर-चूर हो गए हैं।

श्लोक-28

जैसे नदियों के अनेक जलप्रवाह स्वाभाविक रूप से समुद्र की ओर दौड़ते हैं, वैसे ही ये संसार के महान् शूरवीर आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

श्लोक-29

जैसे पतंगे अपने विनाश के लिए धधकती अग्नि की ओर उड़ते हैं, वैसे ही ये सभी मनुष्य अपने विनाश के लिए आपके मुख की ओर दौड़ रहे हैं।

श्लोक-30

हे विष्णो! मैं देख रहा हूँ कि आपके प्रज्वलित मुखों से समस्त लोकों का संहार हो रहा है। आपके भयंकर तेज से सम्पूर्ण जगत् जल रहा है।

श्लोक-31

हे देवेश! हे जगत के निवास! आपके इस भयंकर रूप को देखकर मैं भयभीत हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं, क्योंकि मैं आपके इस रूप को समझ नहीं पा रहा हूँ।

श्लोक-32

अब श्री भगवान बोले- मैं काल हूँ, जो लोकों के नाश के लिए अत्यधिक व्यस्त हूँ। इसी कारण मैं यहाँ प्रकट हुआ हूँ। अब तुम्हारे विरुद्ध खड़े सभी योद्धा, जो युद्धभूमि में हैं, नष्ट हो ही जाएंगे।

श्लोक-33

इसलिए, हे सव्यसाची! अब उठो, यश प्राप्त करो, शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का भोग करो। ये सभी शत्रु पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं, तुम केवल मेरे द्वारा निर्धारित निमित्त कारण मात्र हो।

श्लोक-34

हे अर्जुन! द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य सभी वीर योद्धा पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। इसलिए तुम उन्हें मारो, व्यथित मत हो, युद्ध करो और शत्रुओं को रणभूमि में पराजित करो।

श्लोक-35

संजय ने कहा-हे धृतराष्ट्र! केशव भगवान के इस वचन को सुनकर अर्जुन ने कृतज्ञता सहित दोनों हाथ जोड़कर, काँपते हुए, फिर से भगवान श्रीकृष्ण को प्रणाम किया और अत्यन्त भयभीत होकर, रुक-रुक कर, यह वाक्य कहा।

श्लोक-36

हे हृषीकेश! आपके गुणों की कीर्ति से सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न होकर आपके प्रति अनुरक्त हो जाता है। राक्षस भयभीत होकर दिशाओं में भागते हैं, और सिद्धगण आपको नमस्कार करते हैं।

श्लोक-37

हे महात्मा! आप ब्रह्मा के भी आदिकर्ता हैं, अतः कौन है जो आपको नमस्कार न करे? आप अनन्त, देवों के ईश्वर, जगत के आधार, अक्षर और सत-असत् से परे परम तत्व हैं।

श्लोक-38

आप आदिदेव, पुराणपुरुष हैं। आप इस सम्पूर्ण जगत के परम आश्रय हैं। आप ही वेत्ता (जानने वाले) और वे जिन्हें जानना चाहिए और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है।

श्लोक-39

आप वायु हैं, यम हैं, अग्नि हैं, वरुण हैं, चन्द्रमा हैं, प्रजापति ब्रह्मा हैं और ब्रह्मा के भी पिता आप ही हैं। आपको सहस्र बार नमस्कार है। फिर भी बार-बार आपको नमस्कार है।

श्लोक-40

आपको आगे से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है, चारों दिशाओं से नमस्कार है। हे अनन्तवीर्य! आप असीम पराक्रमी हैं। आप ही सबको व्याप्त करते हैं, इसलिए आप ही सब हैं।

श्लोक 41-42

आपको मित्र समझकर मैंने जो 'हे कृष्ण', 'हे यादव', 'हे सखे' आदि कहकर हठ से कहा था- आपके इस महात्म्य को न जानते हुए, प्रमाद से या प्रेमवश जो कुछ भी कहा था, और जो कुछ आप मेरे साथ विहार, शय्या (सोने-जागने), आसन और भोजन में अथवा अकेले अथवा सबके सामने हँसी-मजाक के लिए अनादरपूर्वक व्यवहार किए गए हों- हे अच्युत! उन सबके लिए मैं आप, जो अप्रमेय हैं, से क्षमा चाहता हूँ।

श्लोक-43

हे अप्रतिम प्रभाव वाले! आप इस चराचर (जड़-चेतन) जगत के पिता हैं। आप पूजनीय हैं, आप गुरु हैं और आप सबसे महान हैं। आप के समान दूसरा कोई नहीं है और आपसे बढ़कर तो त्रिलोक में कोई हो ही नहीं सकता।

श्लोक-44

इसलिए मैं शरीर को प्रणाम की मुद्रा में झुकाकर आपको, जो ईश्वर और स्तुति के योग्य हैं, प्रसन्न करना चाहता हूँ। जैसे पिता पुत्र के अपराध सह लेता है, जैसे मित्र मित्र के और प्रिय अपनी प्रेयसी के अपराध सह लेता है, वैसे ही हे देव! आप भी मेरे अपराध सह लें।

श्लोक-45

हे देव! आपके इस पहले कभी न देखे हुए रूप को देखकर मैं अत्यन्त हर्षित हुआ हूँ, परन्तु मेरा मन भय से बहुत व्याकुल भी हो गया है। इसलिए आप मुझे वही चतुर्भुज विष्णु रूप दिखाइये। हे ईश्वर! मैं आपसे कृपा चाहता हूँ।

श्लोक-46

हे सहस्रबाहु! मैं आपको उसी रूप में देखना चाहता हूँ जिसमें मुकुट, गदा और चक्र हाथ में धारण किये है। इसलिए हे विश्वरूपधारी! आप उसी चतुर्भुज रूप में प्रकट हो जाइये।

श्लोक-47

हे अर्जुन! मैं तुमसे प्रसन्न होकर तुम्हें अपना यह परम रूप दिखा रहा हूँ, जो मैंने अपनी योगशक्ति से प्रकट किया है। यह रूप तेजोमय, अनन्त और आदि है और इससे पहले किसी ने इसे नहीं देखा है।

श्लोक-48

हे कुरुप्रवीर! मनुष्य लोक में इस रूप को न वेदाध्ययन, न यज्ञ, न दान, न क्रियाएँ, न उग्र तपस्या से देखा जा सकता है। केवल तुमने इसे देखा है।

श्लोक-49

हे अर्जुन! तुमने मेरा जो भयंकर रूप देखा है, उससे तुम्हें कोई भय या भ्रम नहीं होना चाहिए। अब भय से मुक्त होकर और प्रसन्नचित्त होकर तुम फिर से मेरा वही रूप देखो, जो तुम्हें प्रिय है।

श्लोक-50

संजय ने कहा- इस प्रकार अर्जुन से यह कहकर, वासुदेव ने अपना स्वीकृत रूप फिर से दिखाया और भयभीत अर्जुन को शान्त किया। फिर वह पुनः सौम्य रूप में प्रकट हुए।

श्लोक-51

अर्जुन ने कहा- हे जनार्दन! आपका यह सौम्य मानुष रूप देखकर अब मैं शान्त और स्थिर हृदय से अपने स्वाभाविक स्थिति में लौट आया हूँ।

श्लोक-52

श्रीभगवान ने कहा- हे अर्जुन! तुमने जो मेरा रूप देखा है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। देवता भी इस रूप को देखने के लिए सदा इच्छुक रहते हैं।

श्लोक-53

जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है- इस प्रकार का चतुर्भुज रूप वाला मैं न वेदों से, न तप से, न दान से और न ही यज्ञ से देखा जा सकता है।

श्लोक-54

हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति से ही मुझे इस रूप में जानना, देखना और मेरी दिव्य अवस्था में प्रवेश करना संभव है।

श्लोक-55

हे पाण्डव! जो व्यक्ति मेरे कार्यों में संलग्न रहता है, जो मेरी भक्ति में निष्ठावान है, जो अनन्य भक्ति से मुझे पूजता है, जो संसारिक आसक्तियों से मुक्त है और सभी प्राणियों के प्रति शत्रुता से रहित है, वह मुझे प्राप्त करता है।



अध्याय-12

श्लोक-1

अर्जुन ने पूछा- हे प्रभो! जो भक्त निरंतर आपकी उपासना करते है और जो अविनाशी, निराकार, अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करते हैं- इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ योगी है?

श्लोक-2

श्रीभगवान बोले- जो अपना मन मुझमें लगाकर, निरंतर भक्ति के साथ, अत्यन्त श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, वे ही मुझे योगियों में श्रेष्ठ लगते हैं।

श्लोक-3

श्रीभगवान ने कहा- परंतु जो लोग इंद्रियों को वश में करके, सर्वत्र व्याप्त (जो हर जगह है), अचिंत्य (जिसे मन से सोचा नहीं जा सकता), अव्यक्त (जिसे देखा या प्रकट रूप में नहीं जाना जा सकता), और सदा एकरस रहने वाले अविनाशी निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं।

सरल व्याख्या-

- **निराकार उपासना-** यहाँ भगवान निराकार (बिना रूप वाले) परमात्मा की भक्ति की बात कर रहे हैं। इसे समझना कठिन है क्योंकि इसमें ईश्वर का कोई निश्चित रूप नहीं होता।
- **अचिंत्य और अव्यक्त-** परमात्मा का वह स्वरूप जो बुद्धि और मन की सीमा से परे है। वह जिसे शब्दों में नहीं बांधा जा सकता और जो इंद्रियों के लिए अदृश्य है।
- **कूटस्थ और ध्रुव-** इसका अर्थ है जो कभी बदलता नहीं, जो स्थिर है और सदैव एक जैसा रहता है।
- **लक्ष्य एक ही है-** श्लोक के अन्त में भगवान यह स्पष्ट करते हैं कि चाहे भक्त साकार रूप (मूर्ति या अवतार) की पूजा करे या निराकार ब्रह्म की, अंततः वे मुझ तक ही पहुँचते हैं।

श्लोक-4

श्रीभगवान ने कहा- जो लोग अपनी समस्त इंद्रियों को भली-भाँति वश में करके, सभी परिस्थितियों में समभाव (समान बुद्धि) रखते हैं और 'सभी प्राणियों के हित में लगे रहते हैं', वे अंततः मुझे ही प्राप्त करते हैं।

- **इंद्रिय संयम-** भक्ति और आध्यात्मिक मार्ग का पहला सोपान अपनी इंद्रियों (आंख, कान, मन आदि) को वश में करना है ताकि वे बाहरी विषयों में न भटकें।
- **समबुद्धय-** इसका अर्थ है सुख-दुःख, मान-अपमान या लाभ-हानि जैसी विपरीत स्थितियों में भी मन को स्थिर रखना और विचलित न होना।
- **सर्वभूतहिते रता-** यह इस श्लोक का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है-भगवान कहते हैं कि जो दूसरों का बुरा नहीं चाहते और सबके कल्याण (सेवा) के लिए कार्य करते हैं, वे स्वाभाविक रूप से मुझ तक पहुँच जाते हैं।

श्रीभगवान यहाँ यह स्पष्ट कर रहे हैं कि उनकी भक्ति केवल ध्यान में ही नहीं, बल्कि संसार के प्रति हमारे व्यवहार और करुणा में भी निहित है।

श्लोक-5

जिनका मन अव्यक्त (निर्गुण) निराकार में आसक्त होता है, उन साधकों को अत्यधिक कष्ट होता है, क्योंकि अव्यक्त (निर्गुण) मार्ग को देहधारी जीव बहुत कठिनाई से प्राप्त कर पाते हैं।

श्लोक-6

परन्तु जो साधक अपने सभी कर्म मुझे अर्पण करते हैं, मुझे ही परम लक्ष्य मानते हैं, और जो अनन्य योग (एकनिष्ठ भक्ति) द्वारा मेरा ध्यान करके मेरी उपासना करते हैं- वे श्रेष्ठ हैं।

श्लोक-7

हे पार्थ! जिनका मन मुझमें ही लगा हुआ है, मैं स्वयं ही उनको मृत्यु रूपी संसार-सागर से शीघ्र ही उबार देता हूँ।

श्लोक-8

हे अर्जुन! अपना मन मुझमें ही लगा और अपनी बुद्धि भी मुझमें ही अर्पित कर। ऐसा करने से तू निःसंदेह आगे चलकर सदा मेरे ही में रहेगा।

श्लोक-9

हे धनंजय ! यदि तुम अपना चित्त मुझमें स्थिर करने में समर्थ नहीं हो, तो अभ्यासयोग (बार-बार अभ्यास) करके से मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान जानते हैं कि साधक का चित्त सीधे भगवान में स्थिर नहीं होता। इसलिए वे दूसरा उपाय बताते हैं अभ्यास। अभ्यास का अर्थ- बार-बार भगवान का नाम जपना व भगवान के रूप का ध्यान करना, भगवान के गुण, लीलाएँ स्मरण करना, भगवान के लिए कार्य करना। अभ्यास से धीरे-धीरे चित्त भगवान में टिकने लगता है। यह साधारण भक्तों के लिए अत्यंत उपयोगी मार्ग है, क्योंकि हर कोई तुरंत मन-बुद्धि को स्थिर नहीं कर सकता।

श्लोक-10

यदि तुम अभ्यास में भी समर्थ नहीं हो, तो मेरे ही लिए कर्म करने वाले बनो। मेरे लिए कर्म करते हुए भी तुम सिद्धि को प्राप्त हो जाओगे।

सरल व्याख्या- भगवान साधक के लिए एक और सरल मार्ग बताते हैं। यदि कोई व्यक्ति न तो मन-बुद्धि को स्थिर कर पाए और न ही अभ्यास-योग ठीक से कर पाए- तो वह भगवान के लिए कर्म करे। उदाहरण- पूजा, सेवा, कीर्तन, दान, साधना, या लोकसेवा, सब भगवान के नाम पर करना। खाना पकाना भी भगवान के लिए, बोलना भी भगवान के लिए, परिवार की सेवा भी भगवान के लिए, जब कर्म भगवान के लिए किया जाता है, तो वह कर्म हमें बाँधता नहीं बल्कि शुद्ध करता है। इस प्रकार साधक धीरे-धीरे भक्ति में आगे बढ़ जाता है।

श्लोक-11

यदि तुम मेरे लिए कर्म करने में भी समर्थ नहीं हो, तो फिर आत्मसंयम रखते हुए सभी कर्मों के फल का त्याग करो।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ भक्त के लिए सबसे सरल उपाय बताते हैं। यदि कोई साधक न तो मन को स्थिर कर पाए, न अभ्यास कर पाए, और न ही भगवान के लिए कर्म कर पाए, तो कम से कम वह अपने कर्मों के फल का त्याग करे। इसका अर्थ- कर्म तो करना ही है (जीवन निर्वाह के लिए) लेकिन उस कर्म के फल (लाभ), हानि, सुख, दुःख की आसक्ति छोड़ दो। यह मार्ग कर्मफल त्याग योग कहलाता है। धीरे-धीरे यह साधक को निःस्वार्थता, समभाव और भक्ति की ओर ले जाता है।

श्लोक-12

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तुरंत शांति प्राप्त होती है।

श्लोक 13-14

जो व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति द्वेष से मुक्त है, जो मैत्रीपूर्ण और करुणामयी है, जो स्वामित्व और अहंकार से रहित है, जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, और जो क्षमाशील है, जो व्यक्ति सदा सन्तुष्ट रहता है, जो अपने आत्मा में स्थित है, जो दृढ़ निश्चयी है, जो अपना मन और बुद्धि मुझे समर्पित करता है, वह मेरा प्रिय भक्त है।

श्लोक-15

जो व्यक्ति- न तो किसी से द्वेष करता है और न किसी से अत्यधिक लगाव रखता है और जो सभी प्रकार के हर्ष, क्रोध, भय, और द्वेष से मुक्त है, वह मेरा प्रिय भक्त है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान श्री कृष्ण ने इस श्लोक में अपने प्रिय भक्त के गुणों का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति- सभी प्राणियों के प्रति द्वेष से मुक्त है, सबके प्रति मैत्रीभाव रखता है, करुणामयी

है, स्वामित्व की भावना से रहित है, अहंकार से मुक्त है, सुख-दुःख में समान दृष्टि रखता है, क्षमाशील है। वह मेरा प्रिय भक्त है। ऐसे भक्त को भगवान अत्यंत प्रिय मानते हैं।

श्लोक-16

जो भक्त सांसारिक लाभ की अपेक्षा से मुक्त है, शुद्ध है, निपुण है, चिन्ता और तनाव से मुक्त है, सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त है, सभी कार्यों में अहंकार और इच्छाओं से मुक्त है, वह मेरा प्रिय भक्त है।

श्लोक-17

जो व्यक्ति न तो सुख में हर्षित होता है, न ही दुःख में द्वेष करता है, न ही किसी हानि पर शोक करता है, न ही लाभ की कामना करता है, शुभ और अशुभ कर्मों का त्याग करता है और जो भक्ति से परिपूर्ण होता है, वह मेरा प्रिय भक्त है।

श्लोक-18

जो व्यक्ति शत्रु और मित्र में समान भाव रखता है, मान और अपमान में समान रहता है, शीत और ऊष्णता, सुख और दुःख में समान रहता है और जो आसक्ति से रहित है, वह मेरा प्रिय भक्त है।

श्लोक-19

जो व्यक्ति निंदा और स्तुति में समान दृष्टिकोण रखता है, मौन रहता है, संतुष्ट रहता है, किसी विशेष स्थान का इच्छुक नहीं है, स्थिर बुद्धि वाला है, और जो भक्ति में रत है, वह मेरा प्रिय भक्त है।

श्लोक-20

जो व्यक्ति इस अमृतमय धर्म को यथावत् स्वीकार कर भक्ति से पालन करते हैं, श्रद्धा से युक्त होकर मुझे परम लक्ष्य मानते हैं, और निरंतर मेरी भक्ति में रत रहते हैं, वह मेरा अत्यन्त प्रिय भक्त है।



अध्याय-13



श्लोक-1

हे कौन्तेय! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और जो इसे जानता है (जिसे यह क्षेत्र ज्ञात है) उसे सत्यतः क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ पर भगवान शरीर को खेत (क्षेत्र) कह रहे हैं, जैसे बीज खेत में बोये जाते है उसी प्रकार की फसल खेत में तैयार होती है वैसे ही जिस प्रकार के कर्मों के संस्कार रुपी बीज इस शरीर (मन बुद्धि चरित्र) में बोये जाते हैं वैसे ही समय आने पर इनका फल प्राप्त होता है, इसीलिए इसे शरीर (खेत) कहा जाता है, और जो इसको तत्त्व से जनता है वह ज्ञानीजन निश्चिन्त ही शरीर को जानने वाला (क्षेत्रज्ञ) कहलाता है।

श्लोक-2

हे अर्जुन! तुम्हे ये जानना चाहिए कि मैं ही सभी शरीरों (क्षेत्रों) का ज्ञाता हूँ। क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ शरीर और शरीर को जानने वाला (क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ) के ज्ञान को ही मैं वास्तविक ज्ञान मानता हूँ। ऐसा मेरा मत है।

श्लोक-3

अब संक्षेप में मुझसे सुनो कि वह शरीर क्या है, वह किन वस्तुओं का बना है, उसके विकार क्या हैं, उसकी उत्पत्ति और शरीर का ज्ञाता कौन है और उसका उसपर प्रभाव क्या है?

श्लोक-4

यह ज्ञान अलग-अलग ऋषियों द्वारा, वेदों द्वारा विभिन्न रूप से छंदो में वर्णित है और वेदांत-सूत्र के तार्किक निर्णयात्मक अध्यायों में पाया जाता है।

श्लोक-5

शरीर में पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश), अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त पदार्थ, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियगोचर विषय सम्मिलित हैं।

सरल व्याख्या- इस श्लोक में भगवान श्री कृष्ण क्षेत्र के तत्व का वर्णन कर रहे हैं। क्षेत्र में पंच महाभूत जिसमे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश आते हैं, अहंकार, बुद्धि, मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ आती हैं और पाँच इन्द्रियगोचर विषय जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध सम्मिलित हैं। यह सभी तत्व मिलकर शरीर के क्षेत्र का निर्माण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को

यह बताना चाहते हैं कि शरीर केवल एक भौतिक संरचना नहीं है, बल्कि यह अनेक तत्वों का सम्मिलन है।

श्लोक-6

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह, चेतना (प्राणशक्ति) और धैर्य, इन विकारों सहित यह क्षेत्र संक्षेप में कहा गया है।

सरल व्याख्या- यह श्लोक हमें समझाता है कि शरीर, मन, भावनाएँ और अनुभव मिलकर क्षेत्र बनाते हैं। आत्मा (क्षेत्रज्ञ) इन सब से अलग है, यह केवल देखता और जानता है। इसे समझने से हम यह जान सकते हैं कि हमारा सच्चा स्वभाव आत्मा है, न कि हमारी इच्छाएँ, द्वेष या सुख-दुःख। इस ज्ञान से मन स्थिर और दुःख-सुख से अप्रभावित रहता है।

श्लोक-7

क्षेत्रज्ञ (आत्मा) में अहंकार का अभाव, दम्भ का अभाव, हिंसा का अभाव, क्षमा, सरलता, आचार्य की उपासना, पवित्रता, आत्म-नियंत्रण और मानसिक स्थिरता जैसी विशेषताएँ होती हैं।

श्लोक-8

श्रीभगवान ने कहा-तू अपने मन को मुझमें ही लगा और अपनी बुद्धि को मुझमें ही स्थिर कर। इसके बाद (इस प्रकार निरंतर अभ्यास करने से) तू निस्संदेह मुझमें ही निवास करेगा।

मन और बुद्धि का समर्पण- कृष्ण यहाँ बहुत स्पष्ट निर्देश दे रहे हैं। मन को ईश्वर के चिंतन में लगाओ और बुद्धि को उनके स्वरूप पर स्थिर करो, जब मन और बुद्धि दोनों एक दिशा में (ईश्वर की ओर) होते हैं, तो भटकाव समाप्त हो जाता है।

आत्म-साक्षात्कार (निवास)- जब भक्त का मन पूरी तरह भगवान में लीन हो जाता है, तो उसे भगवान से अलग होने का बोध ही नहीं रहता। वह सदैव परमात्मा के सानिध्य में रहता है।

ईश्वर का वचन जिसमें कोई संदेह नहीं- भगवान यहाँ पूरी गारंटी दे रहे हैं। वे कहते हैं कि इसमें तनिक भी संशय नहीं है कि ऐसा करने वाला व्यक्ति मुझमें ही स्थित हो जाएगा।

यह श्लोक भक्ति योग का एक बहुत ही व्यावहारिक और शक्तिशाली 'शॉर्टकट' है।

श्लोक-9

जो व्यक्ति पुत्र, पत्नी, घर आदि में मोह और आसक्ति से मुक्त रहता है और जो सुख और दुःख, प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में चित्त की समानता बनाए रखता है, वही ज्ञान को प्राप्त करता है।

श्लोक-10

मुझ भगवान में ऐसा समर्पण और सच्चा प्रेम और भक्ति होनी चाहिए जो कभी न बदलने वाली हो। ऐसी भक्ति एकात में सेवा और ध्यान में लगी होनी चाहिए और जो संसार के जन-संगति में व्यर्थ न भटकती हो।

सरल व्याख्या- सच्ची भक्ति का मार्ग केवल भगवान में पूर्ण समर्पण है। इसमें कोई अन्य उपाय या माध्यम नहीं। भक्ति स्थायी और निष्ठावान होनी चाहिए। यह कभी बदलने वाली या अस्थिर नहीं होनी चाहिए।साधक को एकांत स्थान चुनकर, संसार की हलचल और भौतिक इच्छाओं से दूर, सेवा और ध्यान में नियत रूप से समय देना चाहिए। सच्चा भक्त भीड़-भाड़ या अनावश्यक संगति में समय बर्बाद नहीं करता। वह अपनी भक्ति और ध्यान में स्थिर रहता है।

श्लोक-11

अध्यात्म ज्ञान में यह भी सम्मिलित है- सदैव आत्म-ज्ञान की ओर झुकाव रखना, और सत्य तत्व को जानने की इच्छा रखना। इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह अज्ञान कहलाता है। साधक को हर समय आत्म-ज्ञान के प्रति लगाव रखना चाहिए। यह संसार की विषय-वासनाओं से मन हटाकर आत्मा के स्वरूप में लगाना है।

सरल व्याख्या- सच्चे तत्व (परमात्मा) को जानने की तीव्र जिज्ञासा रखना। यह ज्ञान का मुख्य कारण है। यह सब भगवान ने ज्ञान कहा है, क्योंकि इससे अज्ञान मिटता है और मुक्ति की राह खुलती है। जो इनसे विपरीत है (जैसे अहंकार, आसक्ति, विषयलालसा है)- वह अज्ञान है, जो बंधन का कारण बनता है।

श्लोक-12

अब मैं उस वस्तु (परमात्मा) को बताऊँगा जिसे जानकर मनुष्य अमर हो जाता है। वह परम ब्रह्म अनादि है- न वह सत है, न असत वह दोनों से परे है।

श्लोक-13

वह परमात्मा सर्वत्र हाथ-पैरों वाला है, उसके सर्वत्र आँखें, सिर और मुख हैं, और वह सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है।

सरल व्याख्या- यह श्लोक परमात्मा के सर्वव्यापक स्वरूप का वर्णन करता है। हर प्राणी के हाथ और पैर उसी के हैं, सभी प्राणियों के कर्म उसी से संचालित हैं। हर प्राणी की आँखें, मुख और सिर उसी का विस्तार हैं। वह सब कुछ सुनता है, क्योंकि सबके कान उसी की शक्ति से कार्य करते हैं। वह परमात्मा स्वयं में सब कुछ व्याप्त करके हर जगह स्थित है, परन्तु किसी एक रूप में सीमित नहीं।

श्लोक-14

वह परमात्मा सब इन्द्रियों के गुणों को प्रकाशित करने वाला है, फिर भी स्वयं उन इन्द्रियों से रहित है। वह सबको धारण करने वाला है, फिर भी वह आसक्त नहीं है, वह निर्गुण है, फिर भी गुणों का भोग करने वाला है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि परमात्मा सब इन्द्रियों के कार्यों को प्रकाशित करता है। देखना, सुनना, बोलना, चलना, सब उसी की शक्ति से संभव है, परन्तु वह स्वयं किसी इन्द्रिय से बंधा नहीं है। वह शरीर से रहित, निराकार और सर्वव्यापक है। वह सबको धारण करता है जगत का आधार है, परन्तु किसी में भी आसक्ति नहीं रखता। वह स्वयं गुणों (सत्त्व, रज व तम) से परे है, परंतु इन्हीं गुणों से बना जगत उसी के प्रभाव से चलता है।परमात्मा सबके भीतर रहकर भी निर्लिप्त है, जगत का संचालन उसी से होता है, पर वह उसमें फँसता नहीं- जैसे सूर्य सबको प्रकाश देता है, पर किसी में मिल नहीं जाता।

श्लोक-15

वह परमात्मा सभी प्राणियों के भीतर और बाहर दोनों ही स्थानों पर है, वह चलने वाला भी है और न चलने वाला भी, अपनी सूक्ष्मता के कारण समझ में नहीं आता, वह बहुत दूर भी है और बहुत निकट भी।

सरल व्याख्या- श्लोक का कहने का तात्पर्य है कि वह परमात्मा प्रत्येक जीव के भीतर आत्मरूप में है, और बाहर जगत में विश्वरूप से विद्यमान है। वह जड़ वस्तुओं में अचल है, और चेतन प्राणियों में चलायमान प्रतीत होता है। वह इतना सूक्ष्म है कि इन्द्रियाँ उसे नहीं पकड़ सकतीं, और जो उसे नहीं जानता, उसके लिए वह बहुत दूर है, और जो प्रेमपूर्वक भक्ति करता है, सके लिए वही अत्यन्त निकट है।

श्लोक-16

वह परमात्मा सब प्राणियों में अविभाज्य होकर भी विभक्त प्रतीत होता है। वह विष्णु रूप में सभी का पोषण करने वाला, रूद्र रूप में सबका संहार करने वाला और ब्रह्मा रूप में सबको उत्पन्न करने वाला है।

श्लोक-17

वह सभी ज्योतियों का भी ज्योति है, अज्ञान से परे है, वह ज्ञानस्वरूप, ज्ञेय और ज्ञान से ही प्राप्त होने वाला है, और वह सबके हृदय में स्थित है।

श्लोक-18

इस प्रकार हे अर्जुन! मैंने संक्षेप में तुम्हें क्षेत्र (शरीर), ज्ञान और ज्ञेय (परमात्मा) का स्वरुप बताया, जो मेरा भक्त इसे जान लेता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

श्लोक-19

प्रकृति और पुरुष- इन दोनों को तू अनादि जान और जो विकार (परिवर्तन) और गुण (सत्त्व, रज व तम) हैं, वे प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं-यह जान।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि न तो प्रकृति की कोई आदि सीमा है, न ही पुरुष (ईश्वर) की। दोनों ही अनादि हैं- सृष्टि का आरम्भ इनसे होता है, जो संसार में विकार (जन्म, मरण, दुःख, सुख आदि) दिखाई देते हैं और जो गुण सत्त्व, रज व तम प्रकृति में विद्यमान हैं यह सब प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, सभी परिवर्तन और प्रवृत्तियाँ प्रकृति की देन हैं, आत्मा या पुरुष उनसे परे और अचल है।प्रकृति ही सारे परिवर्तन और क्रियाओं का कारण है। पुरुष (आत्मा) साक्षी मात्र है- वह न करता है, न बदलता है। संसार की गति का मूल कारण प्रकृति के गुण हैं। यह जानने वाला व्यक्ति मोह और आसक्ति से मुक्त होकर ज्ञान और शांति को प्राप्त करता है।

श्लोक-20

कार्य और कारण के कर्तृत्व में (सृष्टि की रचना) और क्रिया में प्रकृति कारण कही जाती है, और पुरुष (आत्मा) सुख-दुःख के भोग का हेतु कहा जाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि जो कुछ संसार में बनता-बिगड़ता है, चलता-फिरता है वह सब प्रकृति (माया) से होता है। यही प्रकृति शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि और कर्मों की रचना करती है। इसलिए उसे कार्य और कारण का कर्ता कहा गया है, जो आत्मा है, वह स्वयं कुछ करता नहीं, परन्तु जब वह प्रकृति से जुड़ता है, शरीर-मन को 'मैं' मानता है, तब वह सुख-दुःख का भोक्ता बन जाता है। यह भोग भी वास्तव में उसका नहीं, बल्कि अहंभाव से उत्पन्न भ्रांति है। सृष्टि की गतिविधि का कारण प्रकृति है। सुख-दुःख का अनुभव होने का कारण अहंकार से जुड़ा पुरुष जीव है, जब यह ज्ञान हो जाता है कि मैं शरीर नहीं, साक्षी आत्मा हूँ, तब मनुष्य कर्म के बंधन से मुक्त होकर मुक्तात्मा बन जाता है।

श्लोक-21

प्रकृति में स्थित पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है। गुणों के साथ उसके संग (आसक्ति) ही उसके अच्छे-बुरे योनियों में जन्म लेने का कारण है।

सरल व्याख्या-आत्मा मूल रूप में अकर्ता और अभोक्ता है, परन्तु जब वह प्रकृति (शरीर-मन-बुद्धि आदि) में स्थित हो जाता है, तब वह अपने को शरीर मानने लगता है और प्रकृति से उत्पन्न तीन गुण- सत, रज और तम के अनुसार सुख, दुःख और मोह का अनुभव करता है। यह अनुभव वास्तव में शरीर-मन का है, लेकिन पुरुष उसे अपना मानकर भोगता प्रतीत होता है। यह सब बंधन गुणों से आसक्ति (संग) के कारण होता है, जैसे कोई व्यक्ति नाटक में किसी पात्र से जुड़ जाता है, वैसे ही आत्मा प्रकृति के गुणों में फँस जाती है। इसी गुण-संग के कारण जीव कभी श्रेष्ठ योनियों (देव, मनुष्य) में और कभी निम्न योनियों (पशु-पक्षी आदि) में जन्म लेता है, कहने का तात्पय है कि कर्म और गुणों के संग से ही पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। वास्तव में आत्मा स्वयं न करता है न भोगता है, पर आसक्ति के कारण फँस

जाती है। सुख-दुःख और जन्म-मरण का चक्र गुण-संग से ही चलता है। जब यह ज्ञान होता है कि मैं शरीर-मन नहीं, साक्षी आत्मा हूँ, तब गुणों से संग टूट जाता है और जीव मुक्त हो जाता है।

श्लोक-22

यह परम पुरुष (परमात्मा) इस शरीर में स्थित होकर उपद्रष्टा (साक्षी), अनुमन्ता (अनुमति देने वाला), भर्ता (पालन करने वाला), भोक्ता (अनुभव करने वाला) और महेश्वर है। इसको 'परमात्मा' कहा गया है।

सरल व्याख्या- यह परम पुरुष इस शरीर में स्थित है, पर शरीर से परे है। वह न तो जन्म लेता है, न मरता है, सदा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। प्रत्येक शरीर में दो सत्ता हैं-

1. **जीवात्मा-** जो गुणों से बँधकर भोगता है।
2. **परमात्मा-** जो साक्षी, अनुमति देने वाला और नियंता है।

जब साधक यह पहचान लेता है कि मैं यह भोगने वाला जीव नहीं, बल्कि साक्षी रूप परमात्मा हूँ, तभी मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

श्लोक-23

जो साधक पुरुष परमात्मा और प्रकृति (माया) को उनके गुणों सहित यथार्थ रूप से जान लेता है, वह चाहे जैसे भी व्यवहार करता हुआ प्रतीत हो फिर भी वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता।

सरल व्याख्या- पुरुष और प्रकृति का ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। जब साधक यह जान लेता है कि शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार-सब प्रकृति के गुणों से बने हैं, और मैं तो इनसे भिन्न साक्षी पुरुष (परमात्मा) हूँ, तब उसके लिए बंधन शेष नहीं रहता। सत्व, रज और तम- ये तीन गुण ही समस्त संसार की क्रियाएँ चलाते हैं। शरीर में ये गुण कार्य करते हैं, परन्तु मैं तो इनका देखने वाला हूँ, करने वाला नहीं। यह ज्ञान पाने वाला व्यक्ति फिर संसार में कोई विशेष आचार-विचार बदलने की चिंता नहीं करता, क्योंकि उसका अन्तर का दृष्टिकोण बदल जाता है- वह जानता है कि "जो कुछ हो रहा है, वह प्रकृति के गुणों से हो रहा है, मैं साक्षी मात्र हूँ।" फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि वह अब देह, मन, बुद्धि से अपनी पहचान नहीं रखता। जब अहंता-ममता का अंत हो जाता है, तो जन्म-मृत्यु का चक्र भी समाप्त हो जाता है। ज्ञान ही मुक्ति है। जब साधक यह देखता है कि- "मैं शरीर नहीं, न इंद्रियाँ, न मन-मैं तो इनके पीछे स्थित साक्षी चौतन्य हूँ," तब वह प्रकृति के पार स्थित परमात्मा स्वरूप में स्थित हो जाता है।

श्लोक-24

कुछ लोग ध्यान के द्वारा, कुछ लोग सांख्य योग (ज्ञान योग) के द्वारा और अन्य लोग कर्मयोग के द्वारा अपने स्वरूप आत्मा को आत्मा में ही देख लेते हैं (आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं।)

सरल व्याख्या- आत्मा का अनुभव एक ही है, परंतु मार्ग अनेक हैं- ध्यान, ज्ञान और कर्म-सभी अंततः एक ही सत्य तक ले जाते हैं, जो अपने स्वभाव के अनुसार किसी भी मार्ग से मन को शुद्ध कर लेता है, वह आत्मा को अपने ही भीतर देख लेता है।

श्लोक-25

जो लोग इस प्रकार ज्ञान, ध्यान या कर्म से आत्मा को नहीं जानते, वे दूसरों से सुनकर उसकी उपासना करते हैं, और वे भी, जो श्रवण में स्थिर रहते हैं, मृत्यु को (संसार-सागर को) पार कर जाते हैं।

सरल व्याख्या- श्रवण भी एक महान साधना है, जो श्रद्धा और प्रेम से सत्संग, शास्त्र या गीता के वचन सुनता है, वह भी धीरे-धीरे उसी आत्मबोध को प्राप्त कर लेता है, जो ध्यान या ज्ञान से प्राप्त होता है।

श्लोक-26

हे भरतश्रेष्ठ! जितने भी स्थावर (अचल) या जंगम (चलने वाले) प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सब क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं- ऐसा तू जान।

सरल व्याख्या- क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग ही सृष्टि का कारण है। क्षेत्र (प्रकृति) से बना शरीर या पदार्थ जगत, क्षेत्रज्ञ (चेतन आत्मा), जब चेतन आत्मा प्रकृति (शरीर, इंद्रिय, मन आदि) के साथ जुड़ती है, तभी यह सजीव संसार प्रकट होता है। स्थावर और जंगम-दोनों प्रकृति से बने हैं। पेड़, पौधे, पर्वत आदि स्थावर हैं, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जंगम हैं। इन सबमें शरीर तो प्रकृति का है, पर जीवन और चेतना क्षेत्रज्ञ से आती है। सभी में एक ही चेतना का प्रकाश है। हर जीव में वही एक परमात्मा अंशरूप से विद्यमान है। अंतर केवल अज्ञान का है, जैसे एक ही सूर्य अलग-अलग पात्रों में प्रतिबिंबित होता है, वैसे ही एक ही परमात्मा सब जीवों में प्रकट होता है, जब साधक यह समझता है कि सब शरीर प्रकृति के हैं और सबमें चेतना एक ही परमात्मा की है- तब उसके भीतर भेदभाव मिट जाता है। यही दृष्टि "समदर्शिता" या "ज्ञानदृष्टि" कहलाती है।

श्लोक-27

जो व्यक्ति सभी प्राणियों में समान रूप से स्थित परमेश्वर को देखता है, और जो देखता है कि वह परमेश्वर सभी नाशवान शरीरों में स्वयं अविनाशी है, वही वास्तव में देखने वाला सच्चा ज्ञानी है।

श्लोक-28

जो साधक सब प्राणियों में समान रूप से स्थित ईश्वर को देखता है, वह अपने द्वारा अपने को (आत्मा को) नष्ट नहीं करता, और इसी से वह परम गति (मोक्ष को) प्राप्त होता है।

श्लोक-29

जो साधक यह देखता है कि सभी कर्म केवल प्रकृति के द्वारा किए जा रहे हैं, और वह यानी आत्मा वास्तव में अकर्ता कुछ भी न करने वाला है- वही वास्तव में सच्चा देखने वाला है।

श्लोक-30

जब मनुष्य यह देखता है कि सभी जीव-प्राणी एक ही ब्रह्म में स्थित हैं, और वही ब्रह्म उनमें विभिन्न रूपों में विस्तार पाकर प्रकट हो रहा है, तब वह ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है।

सरल व्याख्या- एकता का दर्शन ही ब्रह्मदर्शन है, जब साधक यह अनुभव करने लगता है कि यह संसार भले ही अनेक रूपों में दिखाई देता है, पर सबका मूल एक ही ब्रह्म है- तब उसके भीतर अद्वैत (एकत्व) का भाव जाग उठता है। पेड़, मनुष्य, पशु, नदी, पर्वत, ये सब अलग दिखते हैं, लेकिन जैसे मिट्टी के बर्तन अलग-अलग आकारों में होते हुए भी सब मिट्टी के ही हैं, वैसे ही ये सब रूप भी ब्रह्म का ही विस्तार हैं, जब ज्ञानी देखता है कि हर प्राणी का मूल-वही एक परमात्मा है, और वह सबके भीतर एक समान रूप से स्थित है, तब उसका हृदय समभाव से भर जाता है। वही एक अनेक रूपों में प्रकट है, जैसे एक ही सूर्य हजारों जलाशयों में प्रतिबिंबित होता है, वैसे ही एक ही परमात्मा अनेक शरीरों में प्रतिबिंबित होकर अनेकता का आभास कराता है। वही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। जो साधक यह देख लेता है कि 'सबमें एक ही आत्मा है, सब उसी से उत्पन्न हैं और उसी में स्थित हैं,' वह अपने आप ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उसके लिए 'मैं और तू' का भेद मिट जाता है और वह सदा समत्व, शांति और आनंद में स्थित रहता है।

जीवात्मा का परमात्मा से मिलन

आकृति से मनुष्य होना मनुष्यता नहीं है, बल्कि प्रकृति से मनुष्य होना ही मनुष्यता है। मनुष्य देह तो देवताओं को भी दुर्लभ है। पशु-योनि निम्न-भोग भोगने की योनि है, जिन्हें कर्मफल नहीं भोगना पड़ता, अर्थात् उनके द्वारा किये जाने वाले कर्मों से पाप-पुण्य किसी भी प्रकार का कर्मफल जनित नहीं होता। इसी प्रकार देवयोनि उच्च भोग भोगने की योनि है। यहाँ भी उनके द्वारा किये जाने वाले कर्मों से पाप-पुण्य किसी भी प्रकार का कर्मफल जनित नहीं होता हैं, देवताओं को भी पुण्य क्षीण होते ही पुनः मृत्युलोक में वापस जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार पशु व देव योनियाँ भोग योनियाँ हैं, किन्तु इन योनियों में मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य, ब्रह्म, परमात्मा, आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति नहीं हो पाती हैं। यह केवल मनुष्य योनि में ही संभव हैं। इसी बात को श्रीरामरचितमानस के उत्तर काण्ड में बड़े ही सुंदर तरीके से बताया गया हैं-

बड़े भाग मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सदग्रथानि गावा।

गंगा नदी तो अपने प्रियतम सागर से मिलने को इतनी व्याकुल रहती है कि उसके मार्ग में जो भी अवरोध पत्थर, चट्टानें आदि आते हैं, वे उन्हें भी पीसकर आगे बढ़ जाती है। यहाँ तक कि मनुष्य गंगा की चाहे कितनी ही आरतियाँ कर ले या हजारों दीप प्रवाहित कर ले, वह जरा भी मोहित हो रुकती नहीं है क्योंकि उसे तो जल्दी से जल्दी पिया मिलन की आस होती है और वह तभी जाकर शांत होती है जब वह सागर से मिलकर अपना नाम, रूप सब खोकर सागर के साथ एकाकार हो जाती है। इस प्रकार गंगा स्वयं सागर ही हो जाती है। गंगा यहाँ अंश है और सागर उसका अंशी है। इसी प्रकार जीवात्मा भी अंश है और परमात्मा (ब्रह्म) उसका अंशी है। यह जीवात्मा अमृतस्वरूप परमात्मा का ही अंश है जिसने सृष्टि सृजन से पूर्व संकल्प किया - **"एकाऽहं बहुस्यामिः।"** तात्पर्य है कि उस एक ईश्वर ने यह संकल्प लिया कि जो **मैं एक हूँ वह अनेक हो जाऊँ।**

जिस प्रकार नदियाँ पहाड़ों से उतरकर नीचे आ जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी स्वर्गलोक के देवताओं की योनि तक भोगकर नीचे उतर आती है और पुनः मृत्युलोक में आ जाता है। यह जीवात्मा जन्मों-जन्मों से अपने सत स्वरूप को पाने के लिये भटक रहा है। मनुष्य योनि प्राप्त होने पर वह आभास करता रहता है कि उसे वह पूर्णता प्राप्त नहीं हो पा रही है जिसे प्राप्त करने के पश्चात वह अखण्ड शांति व आनंद प्राप्त कर सके। इसी अपूर्णता को पूर्ण करने का प्रयास वह मन के बहकावे में आकर संसारिक इन्द्रिय भोग पदार्थों को भोगकर अस्थाई सुख प्राप्त करता है किन्तु यही इन्द्रिय जनित अस्थाई सुख उसके दुःख का कारण भी बनते हैं। जीवात्मा मानव शरीर में रहकर मन से जीवन पर्यन्त कामनाएं करता रहता है और शरीर, मन व बुद्धि द्वारा उन मनोकामनाओं को पूरा करने में सारा जीवन गँवा देता है। किन्तु फिर भी उसे वह परम शांत व अखण्ड सुख प्राप्त नहीं हो पाता है। जब परमात्मा (सद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण) की कृपा से जीवात्मा को आत्मज्ञान होता है तब वह अपने सत स्वरूप को जान जाता है और तब जीवात्मा भी अपने व्यक्तिगत अस्तित्व (देहाभिमान, मन, बुद्धि व अहंकार) को परमात्मा में उसी प्रकार विलीन कर देता है, जैसे जिस प्रकार नदियाँ अपने अस्तित्व को सागर में विलीन कर देती है। सत्य तो है कि परमात्मा जीवात्मा को अपने अंतर में ही समाहित करने के लिए वैसे ही बाहें फैलाकर इन्तजार करता रहता है, जैसे एक प्रेमी अपनी प्रेमिका का बाहें फैलाकर इंतजार करता हैं। किन्तु यह जीवात्मा मन व बुद्धि पर पड़े अहंकार व अज्ञान के पर्दे के कारण अपने प्रियतम परमात्मा को देख नहीं पाता है और जन्म-जन्म तक भटकता रहता है और परम सुख व शांत प्राप्त नहीं कर पाता। परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण कि कृपा से मनुष्य को जब आत्मबोध होता है, तो वह जान जाता है कि वे मनुष्य देह नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं, अहंकार नहीं, इन्द्रिय भी नहीं, बल्कि वह सत-चित- आनंद, नित्य, सर्वव्याप्त, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप, अक्षय आनंन्द स्वरूप आत्मा है। यही अनुभव महारास, महायोग, शिवशक्ति-योग, शिवोऽहम्-योग, सोऽहम्-योग हैं। यहीं वह ब्राह्मी स्थिति है जिसमें जीव अपने को सीमित से असीमित कर लेता है और ब्रह्म भाव में रहकर अक्षय-आनंद-अमृत स्वरूप परमशान्ति व सन्तोष का अनुभव करता है। यही अक्षय, आनन्द, अमृत की चरम अवस्था है।

श्लोक-31

हे कौन्तेय! यह परमात्मा अनादि, निर्गुण (तीनों गुणों से पर) और अव्यय (कभी न नष्ट होने वाला) है। यद्यपि वह शरीर में स्थित प्रतीत होता है, फिर भी न तो वह कुछ करता है, और न ही कर्मों से लिप्त होता है।

श्लोक-32

जैसे आकाश अपनी सूक्ष्मता के कारण सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा भी सभी शरीरों में विद्यमान होते हुए किसी से लिप्त नहीं होता।

श्लोक-33

हे भारत! जैसे एक सूर्य सम्पूर्ण संसार को प्रकाश देता है, वैसे ही एक आत्मा सारे शरीर को प्रकाशमान करता है (चेतना देता है), जानने की शक्ति देता है।

सरल व्याख्या-सूर्य की तरह आत्मा सबको प्रकाश देती है। आत्मा एक है पर सब शरीरों में प्रकट होती है। शरीर नष्ट होता है, पर आत्मा सदा ज्योतिर्मय रहती है। यही ज्ञानी की दृष्टि है, जो सबमें एक ही आत्मा को देखता है।

श्लोक-34

जो लोग ज्ञान की दृष्टि से क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का वास्तविक भेद जानते हैं और यह भी जानते हैं कि जीव किस प्रकार प्रकृति से मुक्त होता है, वे ही वास्तव में परम परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

सरल व्याख्या- सामान्य मनुष्य केवल शरीर और कर्मों को ही देखता है, पर ज्ञानी व्यक्ति आत्मा को देखता है। उसके पास ज्ञान का नेत्र होता है, जिससे वह देखता है कि- शरीर तो बदलने वाला क्षेत्र है, और मैं आत्मा हूँ- अकर्ता, साक्षी, शुद्ध और नित्य, जब यह भेद स्पष्ट हो जाता है, तब साधक को समझ आता है कि मैं शरीर नहीं, बल्कि शरीर का दर्शक आत्मा हूँ। यह समझने पर मनुष्य जान लेता है कि शरीर, मन, इंद्रियाँ- सब प्रकृति के गुणों से बने हैं और आत्मा उनसे अलग है। यह जानकर वह गुणों से परे हो जाता है कर्म और उसके फल से मुक्त। वे परम को प्राप्त होते हैं, जो यह साक्षात्कार कर लेते हैं कि आत्मा प्रकृति से अलग और शुद्ध है, वही सच्चे अर्थ में परमात्मा को प्राप्त होते हैं। उनके लिए अब जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, सब समाप्त हो जाते हैं।



अध्याय-14

श्लोक-1

भगवान श्रीकृष्ण बोले- हे अर्जुन! अब मैं तुझसे फिर एक उच्चतम ज्ञान कहूँगा, जो सब ज्ञानों में सबसे श्रेष्ठ है, जिसे जानकर अनेक मुनि इस संसार से परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हो चुके हैं।

श्लोक-2

जो पुरुष इस ज्ञान का आश्रय लेते हैं, वे मुझमें स्थित होकर मेरे समान स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। वे न तो सृष्टि के समय उत्पन्न होते हैं, और न प्रलय के समय दुःखी होते हैं।

श्लोक-3

हे भारत! वह महद् ब्रह्मस्वरुप प्रकृति मेरी योनि (गर्भस्थली) है, मैं उसमें बीज रूप से गर्भ रखता हूँ, और उसी से सभी जीव उत्पन्न होते हैं।

विस्तृत सरल व्याख्या (Detailed Explanation)-

इस श्लोक को सरल शब्दों में समझने के लिए हमें भगवान द्वारा बताए गए दो मुख्य तत्वों को समझना होगा:

1. **मूल प्रकृति - जड़ तत्व-** यहाँ 'महद्-ब्रह्म' का मतलब वेद या परमात्मा नहीं, बल्कि 'मूल प्रकृति' (Nature/Matter) है, जिसे माया या प्रधान भी कहा जाता है। यह जड़ (Non-living) है। भगवान इसे अपनी 'योनि' या गर्भधारण करने वाली माता के रूप में बता रहे हैं। संसार के सभी भौतिक शरीर (चाहे वो इंसान हो, पशु हो या पेड़-पौधे) इसी प्रकृति से बनते हैं।
2. **चेतन बीज - आत्मा-** भगवान कहते हैं कि मैं इस जड़ प्रकृति में 'चेतन' (Living/Soul) रूपी बीज डालता हूँ। जैसे एक पिता बीज देता है और माता उसे अपने गर्भ में धारण करती है, ठीक वैसे ही भगवान इस सृष्टि के पिता हैं और प्रकृति माता है।
3. **सृष्टि का निर्माण (जड़ + चेतन का मेल)-** जब तक जड़ प्रकृति में चेतन आत्मा का प्रवेश नहीं होता, तब तक जीवन संभव नहीं है। हमारा शरीर मिट्टी, पानी, हवा (प्रकृति) से बना है, लेकिन इसके भीतर जो चेतना या जान (आत्मा) है, वो भगवान का दिया हुआ बीज है। इन दोनों के मिलने से ही संसार के सभी छोटे-बड़े जीवों का जन्म होता है।

निष्कर्ष (Takeaway):

इस श्लोक के माध्यम से श्रीकृष्ण हमें यह समझा रहे हैं कि इस संसार का कोई भी जीव अकेला या स्वतंत्र नहीं है। हम सब तकनीकी रूप से एक ही माता (प्रकृति) और एक ही पिता (परमात्मा) की संतान हैं। इसलिए पूरी सृष्टि के जीवों में एक ही दिव्य चेतना वास करती है।

श्लोक-4

हे कौन्तेय! सभी योनि जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि में जो भी रूपधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबके लिए वह प्रकृति माता है और मैं भगवान बीज देने वाला पिता हूँ।

श्लोक-5

हे महाबाहो अर्जुन! सत्त्व, रज और तम-ये तीन गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। ये गुण शरीर में रहने वाले अविनाशी आत्मा को शरीर से बांध देते हैं अर्थात् उसे संसार में आसक्त कर देते हैं। तीन गुण- सत्त्व, रज, तम- ये तीनों ही माया (प्रकृति) के मूल गुण हैं। इन्हीं से यह सम्पूर्ण सृष्टि चल रही है।

सरल व्याख्या- सत्त्वगुण-प्रकाश, ज्ञान और शांति देता है। रजोगुण- क्रिया, कामना और अशांति उत्पन्न करता है। तमोगुण- आलस्य, अज्ञान और जड़ता लाता है। ये गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं- आत्मा तो इनसे सर्वथा भिन्न है। आत्मा शुद्ध, निरपेक्ष, साक्षी स्वरूप है परन्तु जब यह शरीर में प्रवेश करता है, तब ये तीन गुण उसे देहाभिमान में फँसा देते हैं। वास्तव में आत्मा न बंधता है, न मुक्त होता है, पर जब वह अपने को शरीर मान लेता है, तब ये गुण उसे कर्म, सुख-दुःख और पुनर्जन्म के बंधन में डाल देते हैं।

- **सत्त्वगुण-** सुख और ज्ञान के माध्यम से बाँधता है यानी सुख की आसक्ति से।
- **रजोगुण-** कर्म और इच्छा के माध्यम से बाँधता है यानी फल की चाह से।
- **तमोगुण-** अज्ञान और आलस्य से बाँधता है यानी जड़ता से।

इन गुणों का ज्ञान ही मुक्ति की शुरुआत है, जब साधक यह पहचान लेता है कि- "मैं इन गुणों का अनुभव करने वाला हूँ, इनका दास नहीं," तब धीरे-धीरे वह इनसे ऊपर उठने लगता है। आत्मा अविनाशी है- गुण केवल शरीर, मन और बुद्धि को प्रभावित करते हैं। आत्मा तो साक्षी है- वह न बदलती है, न नष्ट होती है, परन्तु अज्ञानवश वह अपने को शरीर मानकर बंधन का अनुभव करती है। सृष्टि में जो कुछ भी होता है, वह तीन गुणों से होता है। ये गुण आत्मा को बाँधते हैं, जब वह अपने को शरीर मानता है पर जब साधक समझता है कि मैं साक्षी आत्मा हूँ, गुणों से भिन्न हूँ, तब बंधन मिट जाता है और मुक्ति की राह खुलती है।

श्लोक-6

हे निर्दोष अर्जुन! उन तीन गुणों में से सत्त्वगुण, अपने निर्मल स्वभाव के कारण प्रकाशक (ज्ञान देने वाला) और अनामय (दोषरहित) है, फिर भी यह सुख के आसक्ति और ज्ञान के अभिमान के द्वारा जीव को बंधन में डाल देता है।

सरल व्याख्या- सत्त्वगुण सबसे शुद्ध और शांत गुण है। इसमें मन प्रसन्न, विवेक जागृत और विचार स्पष्ट रहते हैं। जैसे स्वच्छ जल में तल दिखाई देता है, वैसे सत्त्वगुण में आत्मा का स्वरूप झलकने लगता है। यह ज्ञान देने वाला है- सत्त्व से सत्य और असत्य का ज्ञान होता है। यह मनुष्य को शास्त्र, सदाचार और आत्मबोध की ओर प्रेरित करता है। इसलिए सत्त्वगुण आध्यात्मिक उन्नति में सहायक है। सत्त्व में रज की तरह व्याकुलता नहीं, और तम की तरह अज्ञान नहीं होता। इसमें मन निर्मल, शांत और सुखमय रहता है। सत्त्वगुण स्वयं शुभ है, परन्तु जब साधक उस शांति और सुख में आसक्त हो जाता है, तब वह बंधन का कारण बन जाता है, जैसे कोई व्यक्ति ध्यान में सुख अनुभव करता है और उसी आनंद में अटक जाता है- तो वह परम सत्य तक नहीं पहुँच पाता। जब साधक अपने ज्ञान पर गर्व करता है कि "मैं बहुत जान गया हूँ", तब वह ज्ञान भी अहंकार बन जाता है। इस प्रकार ज्ञान का अभिमान भी मुक्ति में बाधक है। सत्त्वगुण का उद्देश्य केवल शुद्धि तक है, बंधन-मुक्ति नहीं। इसलिए भगवान आगे सिखाते हैं कि साधक को तीनों गुणों से ऊपर उठकर केवल साक्षी स्वरूप में स्थित होना चाहिए।

श्लोक-7

हे कौन्तेय! रजोगुण को राग (आसक्ति) से उत्पन्न जानो, जो इच्छा और लगाव से उत्पन्न होता है। यह रजोगुण जीव को कर्मों में आसक्त करके उसे शरीर में बांध देता है।

सरल व्याख्या- रजोगुण का स्वभाव चंचलता, क्रिया और प्रवृत्ति है। यह जीव को निरन्तर कर्मों में लगाता है- "यह करूँ, वह करूँ, यह पाऊँ, यह बनाऊँ।" इसमें शांति नहीं, केवल गतिशीलता और इच्छा रहती है, जब मन में किसी वस्तु की इच्छा उठती है और उस पर लगाव जम जाता है, तब रजोगुण सक्रिय होता है। यह मनुष्य को फल की आसक्ति से बांधता है। रजोगुण का परिणाम है- कर्म और उसका फल-चक्र। इच्छा से कर्म होता है, कर्म से फल, और फल से फिर इच्छा- यह अनंत चक्र चलता रहता है, जब तक फल की चाह रहती है, तब तक बंधन बना रहता है। यह मन को बाह्य विषयों में उलझाए रखता है। व्यक्ति को शांति नहीं मिलती, क्योंकि हर क्षण वह कुछ पाने या करने की चिंता में रहता है। यह गुण संसार को चलाने वाला है पर साधक के लिए यह बंधन का कारण बनता है। रजोगुण से मुक्ति का उपाय है- कर्म में निष्कामता, जब कर्म "फल की आसक्ति" से नहीं, बल्कि "ईश्वर की सेवा" के भाव से किए जाते हैं, तब वही रजोगुण शुद्ध होकर साधना में सहायक बनता है। संसार चलाने के लिए रजोगुण आवश्यक है पर आध्यात्मिक शांति के लिए इसका अतिक्रमण आवश्यक है। इसलिए अर्जुन को भगवान आगे सिखाएँगे कि कर्म करते हुए भी, फल से रहित रहना ही योग है।

श्लोक-8

हे भारत! तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न और सभी जीवों को मोह में डालने वाला जानो। यह गुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा जीव को बंधन में बाँध देता है।

सरल व्याख्या- तमोगुण का जन्म अज्ञान से होता है- जहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं होता, वहाँ तमोगुण का अंधकार होता है। यह गुण मनुष्य को वास्तविकता से दूर रखता है। आत्मा की पहचान भूलकर व्यक्ति केवल देह और विषयों में उलझा रहता है। तमोगुण का स्वभाव है मोह (भ्रम)। यह सही और गलत, सत्य

और असत्य का भेद मिटा देता है। व्यक्ति आलसी, भ्रमित और निष्क्रिय हो जाता है। तमोगुण के तीन मुख्य लक्षण हैं -

1. **प्रमाद-** जीवन के उद्देश्य की उपेक्षा- जो हो रहा है, होने दो।
2. **आलस्य-** श्रम या प्रयास करने की अनिच्छा।
3. **निद्रा-** जड़ता और अचेतनता, जिससे विवेक खो जाता है।

तमोगुण का प्रभाव सबसे भारी है। यह मनुष्य को निष्क्रिय, जड़ और अज्ञानी बना देता है। वह केवल शरीर की सुख-सुविधा में मग्न होकर अपने आत्मिक कल्याण को भूल जाता है। तमोगुण आध्यात्मिक मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। इसे दूर करने का उपाय है- संगति, सत्संग और सत्कर्म। आलस्य या प्रमाद आने पर नाम-स्मरण और शरीर को सक्रिय रखना आवश्यक है। सत्त्वगुण बाँधता है सुख और ज्ञान के अहंकार से, रजोगुण बाँधता है कर्म और इच्छा से, तमोगुण बाँधता है अज्ञान और जड़ता से, परन्तु तमोगुण सबसे नीचे का है, यह चेतना को मद्धिम कर देता है।

श्लोक-9

हे भारत! सत्त्वगुण मनुष्य को सुख में आसक्त करता है, रजोगुण उसे कर्मों में लगाता है और तमोगुण ज्ञान को ढँक कर मनुष्य को प्रमाद में लगाता है।

श्लोक-10

हे भारत! कभी रजोगुण सत्त्व और तमोगुण पर हावी हो जाता है, कभी तमोगुण सत्त्व और रजोगुण पर और कभी सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण पर प्रबल हो जाता है। इस प्रकार ये तीनों गुण बारी-बारी से मनुष्य में प्रभावी होते रहते हैं।

श्लोक-11

जब इस शरीर के सब द्वारों यानी इंद्रियों में प्रकाश (स्पष्टता) ,निर्मलता और ज्ञान का उदय होता है, तब समझना चाहिए कि सत्त्वगुण की वृद्धि हो गई है।

सरल व्याख्या- देह के द्वार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जीभ व त्वचा) और मन हैं, जब इन सबमें प्रकाश (शुद्धता), विवेक और सत्य-बोध आने लगता है, तब यह जान लेना चाहिए कि मनुष्य के भीतर सत्त्वगुण बढ़ रहा है। सत्त्वगुण की पहचान है- मन शांत, स्थिर और निर्मल रहता है। सोचने-समझने की क्षमता बढ़ती है। विषयों में आकर्षण घटता है और आत्मचिंतन बढ़ता है। जीवन में स्पष्टता, निश्चय और प्रसन्नता आती है। यहाँ प्रकाश का अर्थ केवल बाहरी रोशनी नहीं, बल्कि अंदरूनी जागृति और विवेक की दीप्ति है, जैसे सूर्य निकलने पर सब वस्तुएँ स्पष्ट दिखने लगती हैं, वैसे ही जब सत्त्वगुण बढ़ता है तो साधक को अपने कर्तव्य, स्वभाव और आत्मा की दिशा स्पष्ट दिखने लगती है, जब मन में सहज शांति, प्रसन्नता और सबके प्रति शुभ-भाव आने लगे, तब यह मानना चाहिए कि सत्त्वगुण की वृद्धि हो रही है। ऐसे समय में साधक को और अधिक सत्संग, ध्यान और स्वाध्याय में लगना चाहिए, ताकि यह अवस्था स्थिर हो सके और गुणातीतता की ओर बढ़ सके।

श्लोक-12

हे भरतश्रेष्ठ! जब लोभ, कर्मों में प्रवृत्ति, नए कार्यों को आरम्भ करने की चेष्टा, अशान्ति, और भोगों की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है, तो समझ लेना चाहिए कि रजोगुण बढ़ गया है।

सरल व्याख्या- रजोगुण का धर्म है चेष्टा करना, कुछ पाने की लालसा रखना और निरंतर कर्म में उलझे रहना, जब मनुष्य के अंदर लोभ और असंतोष बढ़ने लगे, तब जानना चाहिए कि रजोगुण प्रबल हो गया है। रजोगुण प्रबल होने पर मनुष्य को धन, मान, सफलता या सुख अधिक मात्रा में चाहिए। उसे लगता है कि थोड़ा और मिल जाए तो सुख मिलेगा। यह भावना जितनी बढ़े, उतना ही रजोगुण गहराता है। व्यक्ति एक कार्य पूरा किए बिना दूसरा शुरू कर देता है। विश्राम नहीं, शांति नहीं- बस कर्म और फल की दौड़। यह रजोगुण की स्पष्ट पहचान है। रजोगुणी व्यक्ति को चैन नहीं होता, उसकी बुद्धि बाहर-बाहर भागती रहती है। यह गुण मन को स्थिर होने नहीं देता। इस समय भोगों की चाह बढ़ती है, तो आत्मिक शांति घटती है। यही रजोगुण मनुष्य को कर्मबंधन में बाँधता है, जब भी भीतर बेचैनी, असंतोष या अधिक योजनाएँ बनने लगें, तब समझना चाहिए कि रजोगुण सक्रिय हो गया है। उस समय विराम लेकर ध्यान, जप या आत्म-स्मरण में लगना चाहिए। तभी मन सत्त्व की ओर लौटेगा और संतुलन बनेगा।

श्लोक-13

हे कुरुनन्दन! जब ज्ञान का अभाव (अप्रकाश), उदासीनता (अप्रवृत्ति), लापरवाही (प्रमाद) और भ्रम (मोह) और असमझ उत्पन्न होते हैं, तब समझ लेना चाहिए कि तमोगुण बढ़ गया है।

सरल व्याख्या- तमोगुण मनुष्य को अज्ञान, आलस्य, भ्रम और उदासीनता में डाल देता है। यह गुण विवेक को ढँक देता है, जिससे साधक अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है, जब मनुष्य को यह समझ नहीं रहती कि क्या उचित है, क्या अनुचित, तब यह तमोगुण का लक्षण है। विवेक नष्ट होने से व्यक्ति बिना सोच-विचार के काम करता है या कुछ करता ही नहीं, जब मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती, न सत्कर्म की लगन, न उत्साह केवल जड़ता, तो समझना चाहिए कि तमोगुण प्रबल है। तमोगुणी व्यक्ति जानता है कि क्या करना चाहिए, फिर भी टालता है, भूलता है या सोचता है "बाद में करेंगे।" यह अन्तर की निष्क्रियता का लक्षण है। तमोगुण के प्रभाव में साधक असली और नकली, सत्य और असत्य में भेद नहीं कर पाता। कभी पाप को पुण्य समझ लेता है, कभी मिथ्या में फँस जाता है। जब मन भारी, आलसी या उदास महसूस हो, तब तुरन्त जागरूक होकर प्रेरणादायक सत्संग, जप या अध्ययन शुरू कर देना चाहिए, क्योंकि यह तमोगुण की जड़ता है जो अगर बढ़ जाए तो साधक का आध्यात्मिक विकास रुक जाता है।

श्लोक-14

जब कोई मनुष्य सत्त्वगुण के बढ़े हुए अवस्था में यानी शुद्ध, शांत और ज्ञानी मन से शरीर त्याग करता है, तब वह उत्तम यानी पवित्र लोकों (देवताओं के स्वर्गीय लोकों) को प्राप्त होता है।

श्लोक-15

जो मनुष्य रजोगुण की अवस्था में शरीर का त्याग करता है, वह कर्म में आसक्त व्यक्तियों के बीच जन्म लेता है और जो तमोगुण की अवस्था में मरता है, वह मूढ़-योनि यानी अज्ञान और अधम जीवन रूपों में जन्म लेता है।

श्लोक-16

सात्त्विक कर्म यानी पुण्यकर्म का फल शुद्ध और निर्मल होता है। यह आत्मा के लिए शांति और ज्ञान का कारण बनता है। रजोगुण में सम्पन्न कर्म का फल दुःख और अशांति होता है। यह व्यक्ति को भौतिक इच्छाओं और संघर्षों में लिप्त करता है। तमोगुण में सम्पन्न कर्म का फल अज्ञान और प्रमाद होता है यानी यह व्यक्ति को आलस्य, भ्रम और अविवेक की ओर ले जाता है।

श्लोक-17

सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निसंदेह लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है।

श्लोक-18

सात्त्विक गुण में स्थित व्यक्ति स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं। राजस गुण में स्थित व्यक्ति पृथ्वी लोक (मध्य लोक) में रहते हैं। तमस गुण में स्थित व्यक्ति कीट, पशु आदि नीच योनियों (नरको) में जन्म लेते हैं।

श्लोक-19

जिस समय द्दष्टा साक्षी आत्मा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

श्लोक-20

जो जीव इन तीनों देह-सम्बन्धी गुणों सत्त्व, रज और तम से अतीत हो आत्मा में स्थित हो जाता है, वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और दुःखों से मुक्त होकर अमृत (परमात्मा) को प्राप्त होता है।

सरल व्याख्या- जब साधक यह अनुभव कर लेता है कि सभी कार्य गुणों के कारण होते हैं- न कि "मैं करता हूँ", तब वह गुणों से परे उठ जाता है। उसके लिए सत्त्व, रज और तम- ये सब आत्मा से भिन्न दिखाई देते हैं। ऐसा साधक अब शरीर, इन्द्रियों या मन के साथ अपने को एक नहीं मानता। वह अपने को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा रूप में जानता है, जो इस ज्ञान में स्थित हो जाता है, वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर अमृत स्वरूप ब्रह्म (परमात्मा) को प्राप्त करता है।

श्लोक-21

अर्जुन बोले-हे प्रभो! वह मनुष्य किन-किन लक्षणों से इन तीनों गुणों सत्त्व, रज और तम से ऊपर उठा हुआ (अतीत) जाना जाता है? और उसका व्यवहार कैसा होता है? वह इन तीनों गुणों को कैसे पार कर जाता है?

श्लोक 22-23

हे पाण्डव! जो साधक सत्त्व के प्रकाश, रजस की क्रियाशीलता और तमस के मोह (अज्ञान) इन तीनों गुणों के प्रभावों के होते समय घृणा नहीं करता और जब ये गुण शांत हो जाते हैं तब उनकी चाह भी नहीं करता, वह गुणों से अतीत कहा जाता है।

सरल व्याख्या- जो व्यक्ति उदासीन (तटस्थ) की तरह स्थित रहता है और गुणों के क्रियाकलाप से विचलित नहीं होता, जो यह जानता है कि- "गुण ही गुणों में प्रवृत्त हैं" यानी ये प्रकृति के ही कार्य हैं, मेरे नहीं, वह अचल रहता है और प्रभावित नहीं होता।

श्लोक 24-25

जो मनुष्य सुख और दुःख में समान रहता है, शरीर से स्वस्थ, मन से स्थिर और संतुलित बुद्धि वाला होता है, जो मिट्टी, पत्थर और सोने को समान मानता है, प्रिय और अप्रिय, निन्दा और स्तुति- सबमें समतुल्य भाव रखता है, जो मान और अपमान, मित्र और शत्रु-दोनों में समान रहता है, और सब प्रकार के इच्छा-प्रेरित कर्मों का त्याग कर चुका है, वह मनुष्य गुणातीत कहा जाता है।

सरल व्याख्या- गुणातीत पुरुष हर परिस्थिति में समान भाव रखता है- सुख-दुःख, लाभ-हानि, स्तुति-निदा, मित्र-शत्रु, मान-अपमान- किसी में उसका मन नहीं डोलता। वह जानता है कि यह सब गुणों का खेल है, आत्मा इन सबसे परे है। उसके लिए सोना, पत्थर और मिट्टी के मूल्य में कोई भिन्नता नहीं हैं, क्योंकि वह उनमें परमात्मा का ही दर्शन करता है। वह शरीर से स्वस्थ और मन से स्थिर रहता है। कोई परिस्थिति उसके भीतर अशांति नहीं ला सकती। वह सब स्वार्थयुक्त कर्मों का त्याग कर चुका है। अब उसके कर्म केवल कर्तव्य-बुद्धि से होते हैं, इच्छा-बुद्धि से नहीं। यह पूर्ण आत्म-स्थिति है- जहाँ व्यक्ति न किसी से राग रखता है, न द्वेष, न मान चाहता है, न किसी से भय।

श्लोक-26

जो मनुष्य अडिग (अव्यभिचारी), निष्काम और नित्य भक्ति योग द्वारा मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणों- सत्त्व, रज और तम को लाँघ जाता है और ब्रह्म के समान हो जाता है अर्थात् मुझमें स्थित हो जाता है। ऐसा भक्त कर्म, गुण, अहंकार से रहित होकर शुद्ध साक्षीभाव में स्थित रहता है।

श्लोक-27

क्योंकि उस अविनाशी निराकार ब्रह्म का, अमृत का, नित्य धर्म का और अखंड एकरस आनंद का आश्रय मैं ही हूँ।

सरल व्याख्या- इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण स्पष्ट कर रहे हैं कि जिसे ज्ञानी जन निराकार ब्रह्म कहते हैं, वह भी भगवान के ही स्वरूप की एक किरण या प्रकाश (दिव्य तेज) है। अविनाशी ब्रह्म भगवान कह रहे हैं कि वे उस ब्रह्म का भी आधार हैं जिसे अमर और अविनाशी माना जाता है। वे ही परम-आश्रय हैं और वे न केवल ब्रह्म, बल्कि अमृत, शाश्वत धर्म (सनातन धर्म) और उस परम अखंड आनंद के मूल स्रोत भी हैं। इसका अर्थ यह है कि वे भक्त जो भगवान की सगुण भक्ति करते हैं, वे उस परम सत्य को प्राप्त करते हैं, जिससे ब्रह्म और आनंद दोनों निकलते हैं। भगवान ही अंतिम सत्य हैं जो इस भौतिक जगत के तीनों गुणों (सत, रज व तम) से परे हैं।



अध्याय-15

श्लोक-1

जिस संसाररूपी वटवृक्ष (पीपल) के पेड़ की जड़ ऊपर (परमात्मा) में है और शाखाएँ नीचे (जीवों) में फैली हुई हैं और जिसके वेदरूप पत्ते हैं-

सरल व्याख्या- उसे जो पुरुष सत्य रूप में जानता है, वह वास्तव में वेद को जानने वाला कहा जाता है। इसका मतलब है कि इस संसार का मूल कारण परमात्मा है, जैसे पेड़ की जड़ ही उसकी शक्ति का स्त्रोत होती है, वैसे ही यह सारा जगत भगवान से ही उत्पन्न हुआ है, उन्हीं में स्थित है और अन्त में उन्हीं में लीन होता है। इसलिए भगवान ही इस जगत् की जड़ (मूल) हैं। नीचे की ओर इसका विस्तार जीवों और कर्मों के रूप में है। जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार इस वृक्ष की विभिन्न शाखाओं में फैले हुए हैं। यह विस्तार सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, जन्म-मरण आदि के रूप में है। इसे अश्वत्थ वृक्ष (पीपल) का वृक्ष कहा गया है, क्योंकि यह क्षणभंगुर होते हुए भी प्रतीत में स्थायी लगता है। वास्तव में यह संसार नित्य नहीं है, पर मोहवश जीव इसे स्थायी समझ बैठता है। "वेद इसके पत्ते हैं" जैसे वृक्ष के पत्ते उसकी रक्षा करते हैं, वैसे ही वेद इस संसाररूपी वृक्ष की रक्षा करते हैं। वेदों में इस जगत् के कर्म, धर्म, यज्ञ, उपासना आदि का विस्तार से वर्णन है, जो इस वृक्ष का सही ज्ञान रखता है, वही वास्तव में वेदों का सच्चा जानने वाला है। केवल वेद पढ़ लेना पर्याप्त नहीं, जो समझता है कि यह जगत् परमात्मा से निकला है, परमात्मा में ही स्थित है और अनित्य है, वही वेद का सच्चा ज्ञाता है। संसार एक विपरीत वृक्ष है, ऊपर परमात्मा में जड़ है, नीचे कर्मों में विस्तार है, जो इस सत्य को पहचान लेता है, वह मोह से मुक्त होकर भगवतपथ पर चल पड़ता है। यह श्लोक संसार की मूल संरचना और भगवान से उसके संबंध को बताता है।

श्लोक-2

उस संसाररूपी वृक्ष की शाखाएँ नीचे और ऊपर दोनों ओर फैली हुई हैं जो तीनों गुणों सत्त्व, रज, तम रुपी जल से पोषित होकर विषयरूपी कोमल पत्तों से युक्त हैं। नीचे की ओर मूल (जड़ें) भी फैली हुई हैं, जो कर्मों के बन्धन से मनुष्य लोक में जीव को बाँधती रहती हैं।

सरल व्याख्या- संसार की शाखाएँ ऊपर भी हैं देवता, ऋषि, स्वर्गादि लोकों में और नीचे भी हैं, मनुष्य, पशु, नरकादि लोकों में। यह सम्पूर्ण चराचर सृष्टि इसी वृक्ष की शाखाएँ हैं। यह संसार सत्त्व, रज और तम- इन तीन गुणों से बढ़ता और फैलता है। सत्त्वगुण से ज्ञान और सुख की प्रवृत्ति, रजोगुण से कर्म और इच्छा और तमोगुण से आलस्य व मोह उत्पन्न होता है, जैसे वृक्ष की शाखाओं पर कोमल पत्ते (पल्लव) निकलते हैं, वैसे ही इस संसार में इन्द्रियों के विषय (रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श) इन शाखाओं के नये पत्ते (पल्लव) हैं- जो मनुष्य को भोगों की ओर आकर्षित करते हैं। नीचे की ओर अनेक जड़ें भी फैली हैं, यानी संसार में आसक्ति और मोह की जड़ें। ये जड़ें जीव को बार-बार कर्म और जन्म में बाँधती हैं। मनुष्य लोक में ये जड़ें कर्मों से बँधी हुई हैं। जीव जब तक अपने कर्मों में लिप्त रहता है, तब तक वह इस

संसाररूपी वृक्ष से जुड़ा रहता है। यही कर्म बन्धन यानी आसक्ति व फल की इच्छा उसे बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घुमाते रहते हैं। संसार की सुंदरता केवल भ्रम है, इसकी शाखाएँ विषयों से सुसज्जित हैं, परन्तु उनका फल बंधन है, जो साधक समझ जाता है कि यह वृक्ष गुणों और कर्मों से पोषित है, वह इसके मोह से अलग होकर भगवद्प्राप्ति की दिशा में बढ़ता है। श्लोक का सार यह है कि यह संसार भगवान से उत्पन्न, गुणों से पला-पोसा और कर्मों से जकड़ा हुआ है। इसका मूल कारण आसक्ति है और इससे छूटने का उपाय केवल भक्ति और ज्ञान है।

श्लोक 3-4

इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- इस संसार रूपी वृक्ष का जैसा स्वरूप कहा गया है, वैसा यहाँ (इस संसार में) अनुभव नहीं किया जा सकता, क्योंकि न तो इसका शुरुआत (आदि) दिखाई देता है, न अंत (समाप्ति) और न ही इसकी स्थिति ही ठीक-ठीक समझ में आती है। इसलिए, इस अत्यन्त गहरे मूल वाले संसार-वृक्ष को 'वैराग्य' रूपी दृढ़ शस्त्र (हथियार) से काटकर उस परम पद (परमात्मा के स्थान) को अच्छी तरह खोजना चाहिए, जहाँ पहुँचकर मनुष्य फिर कभी संसार में वापस नही आता। उस परम पुरूष (भगवान) की ही शरण लेनी चाहिए जिससे यह आदि सृष्टि (संसार रूपी वृक्ष) विस्तार को प्राप्त हुई है।

- **उल्टा वृक्ष-** भगवान ने संसार को एक ऐसे वृक्ष के समान बताया है जिसकी जड़ें ऊपर (परमात्मा/ब्रह्म में) हैं और शाखाएँ नीचे (संसार में) फैली हुई हैं।
- **अनादि और अनंत-** इस मायारूपी संसार का न तो हमें आरम्भ पता है और न ही इसका अंत। यह निरंतर चलता रहता है।
- **वैराग्य का महत्व-** भगवान कहते हैं कि इस संसार के मोह और बंधनों से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय 'वैराग्य' है, जैसे किसी पेड़ को काटने के लिए कुल्हाड़ी की आवश्यकता होती है, वैसे ही मोह के इस गहरे पेड़ को काटने के लिए 'वैराग्य' ही एकमात्र हथियार है।
- **परम पद की खोज-** अब यहाँ बताया गया है कि काटने के बाद रुकना नहीं है, बल्कि उस परम लक्ष्य को खोजना है जहाँ पहुँचकर जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है।
- **शरण लेना (प्रपद्ये)-** भगवान यहाँ स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि उस परमात्मा (आदि पुरुष) की शरण में जाना ही एकमात्र उपाय है।
- **सृष्टि का स्रोत-** यह संसार अपने आप नहीं बना, यह उसी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इसलिए, जब हम उस मूल स्रोत (परमात्मा) को जान लेते हैं और उनकी शरण में आ जाते हैं, तब हम इस मायाजाल से पूरी तरह मुक्त हो जाते हैं।

संक्षेप में, ये श्लोक हमें सांसारिक मोह से हटकर अपने वास्तविक लक्ष्य-परमात्मा की प्राप्ति की ओर बढ़ने का मार्ग दिखाता है।

श्लोक-5

जो पुरुष अभिमान और मोह से रहित हैं, संग (आसक्ति) के दोष को जीत चुके हैं, जो आत्मज्ञान में लगातार (नित्य) लगे रहते हैं, सभी कामनाओं से रहित हैं और सुख-दुःख रूपी द्वन्द्वों से मुक्त हैं- वे अज्ञान से रहित होकर उस अविनाशी परम पद को प्राप्त करते हैं।

सरल व्याख्या- 'अभिमान' का अर्थ है- अहंभाव कि "मैं बड़ा हूँ"। यह ही सबसे बड़ी बंधन की जड़ है। जब तक "मैं" और "मेरा" की भावना रहती है, तब तक संसार-वृक्ष नहीं कट सकता, जो मनुष्य अहंकार और मोह से मुक्त हो गया, वह वास्तव में मुक्तिवान है। संग का अर्थ है- विषय, देह, परिवार, कर्म, विचार आदि से लगाव। यह "संग" ही जीव और जगत् के बंधन का कारण है। साधक जब भगवद्-भक्ति में स्थिर होकर इनसे असङ्ग (विरक्ति) हो जाता है, तब यह दोष नष्ट हो जाता है। ऐसे साधक का मन लगातार आत्म-स्मरण में लगा रहता है। वे बाह्य संसार को मिथ्या समझकर अपने वास्तविक स्वरूप (आत्मा) में स्थिर रहते हैं। यही अध्यात्मनिष्ठा मुक्ति की सीढ़ी है, जब मनुष्य को आत्मानन्द प्राप्त होता है, तब विषयों की इच्छाएँ स्वयं मिट जाती हैं। कामना का अभाव ही शांति का आरंभ है। इसलिए सच्चा योगी वही है, जिसकी कोई कामना नहीं रहती-न भोग की, न सिद्धि की, न सम्मान की। सुख और दुःख, लाभ और हानि, मान और अपमान-ये सभी द्वन्द्व (विपरीत अनुभव) हैं। जो इन्हें समान भाव से देखता है, वह ही समदर्शी और स्थिर बुद्धि कहलाता है। ऐसा साधक संसार में रहते हुए भी संसार से ऊपर हो जाता है।

जो इस प्रकार के ज्ञानी और विरक्त हैं, वे अज्ञान से रहित होकर उस अविनाशी परम धाम को प्राप्त करते हैं। वहाँ पहुँचने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। यह श्लोक एक सच्चे साधक के लक्षण बताता है। मुक्ति पाने के लिए अहंकार, मोह, आसक्ति, कामना और द्वन्द्व- इन पाँचों को जीतना आवश्यक है, जब मनुष्य इनसे मुक्त होकर आत्मा या भगवान में स्थिर होता है, तब वह स्वयमेव परम पद को प्राप्त कर लेता है।

श्लोक-6

मेरा परम धाम न सूर्य से प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा से और न अग्नि से, जिसे प्राप्त करके जीव फिर इस संसार में लौटकर नहीं आता-वही मेरा परम धाम है।

सरल व्याख्या- यह संसार अंधकार से घिरा हुआ है, यहाँ सब प्रकाश बाहर के साधनों से होता है- सूर्य, चन्द्र और अग्नि से, परन्तु भगवान का परम धाम (बैकुण्ठ या मोक्षलोक) ऐसा दिव्य स्थान है, जहाँ किसी बाहरी प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वहाँ का प्रकाश स्वयं भगवान से निकलता है। वहाँ पहुँचकर जीव पुनः जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं लौटता। वह सदा भगवान में स्थित होकर अक्षय-आनन्द-अमृत को प्राप्त करता है। यह भगवान का परम लक्ष्य है- जहाँ जाने पर सब दुखों का अंत हो जाता है।

श्लोक-7

यह जीव (प्रत्येक प्राणी) वास्तव में मेरा ही सनातन अंश है। वह प्रकृति में स्थित होकर मन और पाँच इन्द्रियों को अपने साथ लेकर कार्य करता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ कह रहे हैं कि जीव कोई अलग (पृथक) सत्ता नहीं है, वह मेरा ही अंश है। जैसे समुद्र की लहर समुद्र का ही अंश है, वैसे ही जीव भगवान का अंश है। यह अंश सनातन है (यह सदा से है), न कभी उत्पन्न हुआ और न नष्ट होता है, परन्तु यह जीव जब प्रकृति (माया) में फँस जाता है, तब वह अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को भूलकर 'मैं शरीर हूँ'- ऐसा मानने लगता है, फिर यह जीव मन और पाँच इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, जीभ व त्वचा) के माध्यम से विषयों का अनुभव करने लगता है। इसी कारण वह सुख-दुःख, राग-द्वेष और जन्म-मृत्यु के चक्र में उलझ जाता है।

श्लोक-8

जब यह जीवात्मा (ईश्वर का अंश) नया शरीर ग्रहण करता है या पुराने शरीर को छोड़ता है, तब वह मन और इन्द्रियों को साथ लेकर जाता है- जैसे वायु सुगंधों को फूलों से अपने साथ ले जाती है।

सरल व्याख्या- यहाँ भगवान जीव की गति का वर्णन करते हैं- जब जीव, मृत्यु के समय पुराने शरीर को छोड़ता है या जन्म के समय नया शरीर प्राप्त करता है तो वह अपने मन और इन्द्रियों के संस्कारों को साथ ले जाता है। यह मन और इन्द्रियाँ शरीर के साथ नष्ट नहीं होतीं, बल्कि जीव के सूक्ष्म शरीर में स्थित रहती हैं, जैसे वायु किसी स्थान से गंध लेकर दूसरे स्थान तक पहुँचती है, वैसे ही जीव अपने कर्मों के संस्कार और मन-बुद्धि-इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ लेकर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रकार शरीर तो बदल जाता है, परंतु जीव का कर्मफल और प्रवृत्तियाँ उसके साथ रहती हैं और आगे का जीवन उसी अनुसार बनता है।

श्लोक-9

यह जीव अपने मन और पाँच इन्द्रियों- कान, आँख, त्वचा, जीभ और नाक को अधिष्ठान (आधार या आश्रय) बनाकर, उनके द्वारा विषयों का उपभोग करता है। जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के साथ नए शरीर में प्रवेश करता है।

सरल व्याख्या- उसके साथ मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रहती हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा वह बाहरी विषयों जैसे शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गंध का अनुभव करता है। मन सब इन्द्रियों का अधिपति है- इसलिए इन्द्रियों के अनुभवों को मन एकत्र करके उनमें आसक्ति या विरक्ति पैदा करता है। इस प्रकार जीव अपनी ही चेतना को इन्द्रियों और मन में लगाकर विषयों का भोग करता है और उनसे बंध जाता है (जब तक जीव स्वयं को शरीर मानता है) और इन्द्रियों के अनुभवों में सुख खोजता है, तब तक वह जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसा रहता है।

श्लोक-10

जो जीव शरीर को छोड़ता है या उसमें स्थित रहता है या इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करता है- उसे अज्ञानी लोग नहीं देख पाते, परन्तु ज्ञान-चक्षु वाले ज्ञानी लोग उसे देख लेते हैं।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ यह कह रहे हैं कि जीव का शरीर में प्रवेश करना, वहाँ रहना और वहाँ से निकल जाना, यह सब बहुत अदृश्य (सूक्ष्म) प्रक्रिया है, जिसे केवल ज्ञानीजन ही समझ सकते हैं। अज्ञानीजन केवल शरीर को ही "मैं" मानते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि इस शरीर के भीतर चेतन आत्मा निवास कर रही है, जो इसको चला रही है और इसके बिना शरीर निर्जीव है, जब मृत्यु के समय आत्मा शरीर छोड़ती है, या जीवन के समय विषयों का भोग करती है, तो यह सब इन्द्रियों और मन के माध्यम से होता है, परन्तु यह आत्मा की क्रिया (गति) इतनी सूक्ष्म होती है कि इसे केवल "ज्ञानचक्षु वाले"- (विवेकयुक्त ज्ञानी पुरुष) ही देख सकते हैं, जिनके मन में भगवान के स्वरूप का ज्ञान है, वे जानते हैं कि "आत्मा न मरती है, न जन्म लेती है, वह तो केवल शरीर बदलती है।" इसलिए वे इस परिवर्तन से विचलित नहीं होते।

श्लोक-11

संयमशील योगीजन प्रयत्न करते हुए इस आत्मा को अपने भीतर स्थित देखते हैं, परंतु जिन्होंने अपने मन को वश में नहीं किया वे प्रयास करने पर भी इस आत्मा को नहीं देख पाते।

सरल व्याख्या- आत्मा का अनुभव केवल संयमी, शुद्धचित्त योगी को ही होता है। विषयों में आसक्त व्यक्ति चाहे जितना यत्न करे, आत्मा को नहीं जान पाता। इसलिए साधक को पहले मन की शुद्धि और एकाग्रता प्राप्त करनी चाहिए।

श्लोक-12

जो तेज सूर्य में स्थित होकर सारे जगत को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमा में है, और जो अग्नि में है- उसे तुम मेरा ही तेज जानो।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ यह समझाते हैं कि जगत में जो भी प्रकाश, ऊष्मा या जीवनदायिनी शक्ति दिखती है- वह किसी वस्तु या ग्रह की नहीं, स्वयं भगवान के तेज का अंश है। सूर्य के द्वारा दिन में संसार प्रकाशित होता है, चन्द्रमा की शीतल किरणें रात्रि में सुख देती हैं, और अग्नि से ऊष्मा व प्रकाश मिलता है। इन तीनों का मूल तेज भगवान का ही है अर्थात् भगवान सर्वव्यापी हैं, उनका तेज ही इन रूपों में कार्य कर रहा है। यह पहचान साधक को यह भावना देती है कि "संसार की हर शक्ति, हर प्रकाश भगवान से ही प्रकट हो रही है।" इस भावना से मन में भक्ति दृढ़ होती है और अहंकार नष्ट होता है।

श्लोक-13

मैं पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब प्राणियों को धारण करता हूँ और रसस्वरूप (अमृतमय-सोम) बनकर सब वनस्पतियों का पोषण करता हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ यह बताते हैं कि सिर्फ सूर्य, चन्द्र या अग्नि ही नहीं, बल्कि पृथ्वी के भीतर भी वही कार्यरत हैं। भगवान कहते हैं, कि वे ही अपनी दिव्य शक्ति से पृथ्वी में प्रवेश करके संपूर्ण प्राणियों को संभाले हुए हैं। यदि यह दिव्य शक्ति हट जाए, तो पृथ्वी टिक नहीं सकती। इसी प्रकार "सोम" का अर्थ है वह रसस्वरूप ऊर्जा, जो वनस्पतियों और औषधियों को पुष्ट करती है, जिसके कारण पेड़-पौधे

बढ़ते हैं, फलते-फूलते हैं और प्राणियों को आहार प्रदान करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान हर वस्तु में "अदृश्य रूप से" उपस्थित हैं, जो सबको जीवन, शक्ति और पोषण दे रहे हैं।

श्लोक-14

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में पाचन अग्नि के रूप में स्थित हूँ और प्राण तथा अपान वायु से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न (खाद्य पदार्थ) को पचाता हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ यह बताते हैं कि वे केवल बाहरी जगत में ही नहीं, बल्कि हर प्राणी के अंदर भी सक्रिय हैं। शरीर के भीतर जो पाचन की अग्नि है, जो अन्न को पचाकर शरीर को शक्ति, बल और जीवन देती है- वह भी भगवान का ही रूप है। मनुष्य सोचता है कि "मैं खाता हूँ, मैं पचाता हूँ," पर वास्तव में यह कार्य भगवान पाचन अग्नि के रूप में करते हैं। यह अग्नि प्राण और अपान वायु के सहयोग से चार प्रकार के अन्न यानी चबाने योग्य (रोटी, चावल, दाल, सब्जी आदि), पीने योग्य (दूध, सूप, जूस, पानी, छाछ आदि), चूसने योग्य (चमनप्रास, चटनी, शहद, मुरब्बा आदि) और निगलने योग्य (दवा-दारू आदि) सबका पाचन करती है।

इससे यह समझना चाहिए कि शरीर की प्रत्येक क्रिया में भी भगवान ही कार्यरत हैं। मनुष्य का शरीर केवल एक यंत्र है और उसके भीतर कार्य करने वाला "शक्ति-स्त्रोत" स्वयं परमात्मा है।

श्लोक-15

मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और विस्मरण होता है। सभी वेदों द्वारा मुझे ही जानना है, क्योंकि मैं ही वेदों का रचयिता और उनका सच्चा ज्ञाता हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान अपने अन्तर्यामी स्वरूप का परिचय दे रहे हैं। वे कहते हैं, "मैं सबके हृदय में स्थित हूँ" अर्थात् प्रत्येक जीव के भीतर जो चेतना, विवेक और प्रेरणा कार्य करती है, वह सब भगवान की ही शक्ति है। मनुष्य जो कुछ सोचता, याद करता या भूलता है- वह सब उसी परमात्मा की प्रेरणा से होता है। मनुष्य का "मैं करता हूँ" का भाव अज्ञानवश है, क्योंकि वास्तव में सब क्रियाओं का मूल कारण भगवान ही हैं। 'स्मृति, ज्ञान और अपोहन'- यह तीनों मनुष्य के बुद्धिगत कार्य हैं और भगवान इन सबके "मूल नियन्ता" हैं, फिर भगवान कहते हैं कि सभी वेदों का एक ही उद्देश्य है- भगवान का ज्ञान कराना। वेदों का सार यही है कि भगवान ही सबके भीतर हैं, सब उन्हीं से उत्पन्न हैं और उन्हीं में लीन होते हैं। इसलिए वेदों का सच्चा ज्ञाता वही है, जो भगवान को जानता है और 'वेदान्त' का कर्ता भी वही परमेश्वर स्वयं हैं।

श्लोक-16

इस संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं- एक नाशवान और दूसरा अविनाशी। सभी प्राणी नाशवान पुरुष कहलाते हैं और जो अपरिवर्तनीय व अचल जीवात्मा है- वह अविनाशी पुरुष कहलाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान दो प्रकार के पुरुषों का वर्णन करते हैं- पहला यह सब प्राणी नाशवान पुरुष कहलाते हैं जो शरीर धारण करती हैं। इनका स्वभाव है- जन्म लेना और नष्ट होना। ये प्रकृति के

गुणों में लिप्त होकर कर्मफल भोगते हैं, इसलिए संसार चक्र में बँधे रहते हैं। दूसरा जीवात्मा (अव्यक्त प्रकृति) है, जो सबका आधार है, परन्तु स्वयं परिवर्तित नहीं होती। इसे 'अपरिवर्तनीय' कहा गया है- जैसे धातु से गहने बनते हैं, पर धातु का मूल तत्व नहीं बदलता। वैसे ही यह अव्यक्त प्रकृति यानी सब परिवर्तनशील वस्तुओं का मूल है, पर स्वयं स्थिर रहती है।

श्लोक-17

परन्तु उन दोनों नाशवान और अविनाशी पुरुष से भिन्न एक तीसरा पुरुष है- वह परम पुरुष कहलाता है, जिसे परमात्मा कहा गया है। वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उन सबको संभालता और धारण करता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान उस तीसरे पुरुष का वर्णन करते हैं जिसे उत्तम पुरुष (परमात्मा) कहते हैं- यह नाशवान और अविनाशी दोनों से परे है। वह नाशवान नहीं है, न ही केवल स्थिर ऊर्जा है- वह तो सर्वश्रेष्ठ चेतन सत्ता है, जो इन दोनों का स्वामी है। वह सर्वत्र व्याप्त है- तीनों लोकों में प्रवेश करके सबको धारण, पोषण और नियंत्रित करता है, जैसे धागा सारे फूलों को माला में जोड़कर रखता है, वैसे ही परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करता है। वह अविनाशी और ईश्वर है- वह परमात्मा कभी नष्ट नहीं होता। वह सबका नियामक है- जीव और प्रकृति दोनों उसी के अधीन हैं।

श्लोक-18

क्योंकि मैं नाशवान प्राणियों से परे हूँ, और अविनाशी जीवात्मा से भी श्रेष्ठ हूँ, इसलिए मैं इस लोक में और वेदों में "पुरुषोत्तम" पुरुष के रूप में प्रसिद्ध हूँ।

श्लोक-19

हे भारत! जो पुरुष मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम रूप में भ्रमरहित होकर जानता है- वह सब कुछ जानने वाला है और वह मुझको पूरे मन, बुद्धि और प्रेम से भजता है।

श्लोक-20

हे निष्पाप अर्जुन! यह अत्यन्त गूढ़ ज्ञान मैंने तुझसे कहा है। इसे भली-भाँति समझ लेने पर मनुष्य बुद्धिमान हो जाता है और कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् जिसने जीवन का सच्चा उद्देश्य पूरा कर लिया है।



अध्याय-16

श्लोक-1

डर का अभाव, मन और बुद्धि की पवित्रता, ज्ञानयोग में स्थिरता, दान देना, इन्द्रियों को वश में रखना, यज्ञ करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, तप करना और सरलता- ये सब दैवी गुण हैं।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ साधक के श्रेष्ठ दैवी गुण बता रहे हैं-

1. **निर्भयता-** भगवान में विश्वास होने से मनुष्य हर भय से मुक्त रहता है। भय केवल तब रहता है जब मनुष्य संसार को अपना आधार मानता है।
2. **अन्तःकरण की पवित्रता-** स्वार्थ, छल, कपट और वासनाओं से मुक्त होकर मन और बुद्धि को शुद्ध रखना।
3. **ज्ञान में स्थिरता-** यह दृढ़ समझ- मैं शरीर नहीं, भगवान का अंश आत्मा हूँ। इस ज्ञान पर निरंतर स्थित रहना।
4. **दान-** निःस्वार्थ भाव से दूसरों का भला करना। दान केवल धन का नहीं-समय, ज्ञान, सेवा सब दान हैं।
5. **इन्द्रियनिग्रह-** इन्द्रियों को बुरी दिशाओं में न जाने देना। मनुष्य का पतन इन्द्रियासक्त होकर ही होता है।
6. **यज्ञ-** ईश्वर समर्पण भाव-अपने कर्तव्य भगवान को समर्पित भाव से करना। सेवा, भक्ति, पूजा- सब यज्ञ हैं।
7. **स्वाध्याय (शास्त्र अध्ययन व नामस्मरण)-** गीता, सत्साहित्य पढ़ना, नामजप, मंत्रजाप- आत्मशुद्धि का मुख्य उपाय।
8. **तप-** सुख सुविधाओं में न फँसना, सत्य, ब्रह्मचर्य, सेवा और सहनशीलता को बढ़ाना।
9. **सरलता-** मन, वाणी और कर्म में सरलता। छल, कपट, दिखावा, चालाकी न हो-यही सच्चे साधक का वास्तविक स्वभाव है ।

श्लोक-2

अहिंसा यानी किसी प्राणी को दुःख न देना, सत्य बोलना, क्रोध न करना, त्यागभाव, मन की शांति, दूसरों की निंदा न करना, सब प्राणियों पर दया, लोभ का अभाव, कोमल (मृदुलता) व्यवहार, लज्जा (अनाचार) से लज्जित होना और चंचलता रहित स्थिर स्वभाव- ये भी दैवी गुण हैं।

सरल व्याख्या- अब श्रीभगवान आगे दैवी गुण बताते हैं-

1. **अहिंसा-** किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से दुःख न देना। ईर्ष्या, कटु वचन, कठोर व्यवहार भी हिंसा हैं।
2. **सत्य-** जो हितकारी हो और हृदय से निकले- वही सत्य है। कटुता भरा सच भी हिंसा है।
3. **अक्रोध-** क्रोध को उठने से रोकना, और आ भी जाए तो सहन कर लेना, न बढ़ाना।
4. **त्याग-** अहंकार का त्याग, फल-त्याग, स्वार्थ-त्याग। त्याग बिना भक्ति पक्की नहीं होती।
5. **शांति-** मन का संतुलित रहना- न दुःख में टूटे, न सुख में उछले।
6. **निंदा न करना-** दूसरों की त्रुटियों को उथल-पुथल कर चर्चा न करना। निंदा से मन अशुद्ध होता है।
7. **दया-** हर जीव में भगवान को देख कर उसके प्रति करुणा रखना।
8. **अलोभ-** वस्तुएँ मिलें तो ठीक, न मिलें तो भी ठीक। लोभ से चित्त अशांत होता है।
9. **मृदुलता -** व्यवहार में कोमलता-अहंकार नहीं, कठोरता नहीं।
10. **लज्जा-** अधर्म, पाप, दुर्व्यसनों से लज्जा आना। लज्जा धर्म की रक्षा करती है।
11. **स्थिरता-** फालतू उत्सुकता, दौड-भाग, दिखावा, इधर-उधर आसक्त होने वाली प्रवृत्ति न हो। स्थिरता ही साधना का आधार है।

श्लोक-3

हे भारत! तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्वेष न करना और अभिमान का अभाव- ये सब दैवी संपत्ति हैं, जो दैवी स्वभाव वाले मनुष्य में पाए जाते हैं।

1. **तेज-** सत्य, शुद्धता और आत्मबल से उत्पन्न तेज, जो पवित्रता से झलकता है, अहंकार और क्रोध से नहीं।
2. **क्षमा-** किसी के दोष देखने पर भी मन में कटुता न रखना, उसे क्षमा कर देना।
3. **धैर्य-** कठिनाइयों में भी मन को स्थिर, संयमित और ईश्वर पर टिकाए रखना।
4. **पवित्रता-** बाहरी व मन की पवित्रता।
5. **अद्रोह-** किसी के प्रति वैर, ईर्ष्या, द्वेष न रखना। "सब मेरे अपने हैं"- ऐसा भाव रखना।
6. **विनम्रता-** अपने को बड़ा न मानना, सम्मान मिलने पर भी अहंकार न आना। ऐसा मनुष्य दैवी जन्म वाला कहा जाता है।

श्लोक-4

हे पार्थ! दिखावा करना, घमंड, अहंकार, क्रोध, कटु वाणी और अज्ञान यानी स्वयं को आत्मा न मानकर शरीर मानना- ये सब आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य के गुण हैं।

सरल व्याख्या- दिखावा साधना को शून्य कर देता है। घमंड आने से भगवान दूर हो जाते हैं। क्रोध बुद्धि को विकृत कर देता है। कटुवाणी मन की गंदगी बाहर निकालती है। अज्ञान सबसे बड़ा बंधन है- इससे

आत्मा भूल जाती है। साधक का धर्म है- इन दुर्गुणों को तुरन्त पहचान कर छोड़ देना। ईश्वर का मार्ग- विनम्रता, मधुरता, शांति और सत्य है।

श्लोक-5

दैवी (सात्त्विक) सम्पदा मुक्ति की ओर ले जाती है और आसुरी (तामसी) बंधन में डालती है। इसलिए हे पाण्डव! शोक मत करो- तुम दैवी सम्पदा से युक्त जन्मे हो।

श्लोक-6

हे अर्जुन! इस संसार में जीवों के दो प्रकार के स्वभाव पाए जाते हैं- दैवी और आसुरी। दैवी स्वभाव का विस्तार से वर्णन मैंने कर दिया है। अब तुम मुझसे आसुरी स्वभाव का वर्णन सुनो।

श्लोक-7

आसुरी प्रकृति वाले लोग, क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इस बात को नहीं जानते। उनमें न शुद्धाचार होता है, न उत्तम आचरण होता है और न ही सत्य का पालन होता है।

सरल व्याख्या- जो मनुष्य आसुरी प्रवृत्ति वाले होते हैं, उन्हें धर्म-अधर्म की समझ नहीं होती। क्या करना चाहिए यानी प्रवृत्ति और क्या नहीं करना चाहिए यानी निवृत्ति- आसुरी स्वभाव वालों को इसका ज्ञान नहीं होता। उनके अंदर न शुद्धता रहती है, न अच्छे संस्कार और शील व्यवहार और न ही सत्य के प्रति श्रद्धा। ऐसे लोग अपनी इच्छा को ही धर्म मानते हैं, जो मन में आया वही करते हैं और वही ठीक समझते हैं।

श्लोक-8

आसुरी प्रवृत्ति वाले लोग कहते हैं कि यह जगत असत्य है, इसका कोई आधार नहीं है, यह ईश्वर रहित है। यह केवल स्त्री-पुरुष के मिलन से उत्पन्न हुआ है, इसके सिवा और क्या कारण होगा? यह सब कामना की ही उपज है।

श्लोक-9

इन आसुरी मतों को दृढ़ पकड़कर, नष्ट आत्मा व अल्प बुद्धि वाले लोग भयानक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और जगत के नाश के हेतु बनते हैं।

सरल व्याख्या- जो लोग यह मानते हैं- संसार बिना ईश्वर के है भोग ही जीवन है धर्म-नीति कुछ नहीं। ऐसी गलत दृष्टि पकड़ लेने से-उनकी आत्मा प्रकट नहीं होती यानी उनका आत्मभाव खो जाता है। बुद्धि नष्ट हो जाती है। वे हिंसा, पाप और कठोर कर्मों में लग जाते हैं। इसका परिणाम होता है कि वे संसार को हानि पहुँचाते हैं। समाज का पतन करते हैं। अशांति, भय, अनाचार फैलाते हैं।

श्लोक-10

वे अतृप्त कामना का आश्रय लेकर, दंभ, मान और मद से युक्त होकर, मोह से असत्य मत पकड़कर, अशुद्ध कर्मों में लगे रहते हैं।

सरल व्याख्या- आसुरी स्वभाव वाले लोग- अतृप्त इच्छाओं में उलझे रहते हैं। काम का तो स्वभाव है कि इसकी जितनी पूर्ति की जाती है, ये उतना बढ़ता है। ये लोग दिखावा, अहंकार और घमंड से भरे रहते हैं। मैं ही बड़ा हूँ- ऐसी भावना मोह के कारण वे गलत विचार पकड़ लेते हैं। वे अधर्म को धर्म जैसा मानने लगते हैं। उनका जीवन व कर्म अशुद्ध होते हैं। भोग, हिंसा, छल व पाखंड ही उनका कर्म होता है। ऐसे लोग सदाचार नहीं करते- उनका आचरण शरीर, मन और वचन से अशुद्ध होता है।

श्लोक-11

वे लोग असीम चिन्ताओं को धारण करते हैं, जो मृत्यु तक बनी रहती हैं। वे काम-भोग को ही परम लक्ष्य मानते हैं और यह निश्चय कर लेते हैं कि यही सब कुछ है।

सरल व्याख्या- आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य असंख्य चिंताएँ करते रहते हैं- धन, सुख, मान-शान, परिवार, स्वार्थ आदि की चिंता। मृत्यु तक उनकी चिंता खत्म नहीं होती यानी मरण समय तक उन्हें बेचैनी और भय बना रहता है। वे भोग-विलास को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं यानी खाना-पीना, सुख-सामग्री व इन्द्रिय-विषयों का भोग ही उनका परम लक्ष्य होता है। उन्हें लगता है कि 'बस यही जीवन है, भोग ही सर्वोत्तम है' इनकी बुद्धि संसार में रमी रहती है, और आध्यात्मिक मार्ग की ओर नहीं झुकती ।

श्लोक-12

वे लोग सैकड़ों आशाओं के बन्धनों से बँधे हुए, काम और क्रोध में लगे रहते हैं और भोगों की पूर्ति के लिए अन्याय से धन का संचय करते हैं।

श्लोक-13

आसुरी मनुष्य सोचता है- 'आज मैंने यह पाया है और इस मनोरथ को भी प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह धन है और आगे भी यह धन और बढ़ेगा।

सरल व्याख्या- आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य के विचार इस प्रकार होते हैं- आज बहुत धन मिला, आगे भी और मिलेगा, जो इच्छा है, वह भी पूरी हो जाएगी। उसके मन में यह चल रहा होता है- "मैंने पाया है, मैं और पाऊँगा- मेरा धन बढ़ता जाएगा" उनकी सारी सोच संग्रह, भोग और अभिमान में ही घूमती है। वे यह नहीं सोचते कि ये सब कुछ भगवान की कृपा से मिला है। ये नहीं मानते हैं कि यह संसार नश्वर है- मुझे धर्म और आत्मोन्नति करनी है बल्कि 'मैं' और 'मेरा धन'- यही उनकी पूजा है। ऐसा मन भगवान से दूर, मोह और अहंकार में जकड़ा रहता है।

श्लोक-14

आसुरी मनुष्य सोचता है- यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और मैं दूसरों को भी मारूँगा। मैं ही ईश्वर हूँ, मैं भोग करने वाला हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं सुखी हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान् कहते हैं कि आसुरी प्रवृत्ति वाला व्यक्ति- शत्रुता और हिंसा में ही परम सुख मानता है। वह सोचता है कि- "मैंने फलाँ को हराया, औरों को भी हरा दूँगा"। वह खुद को ईश्वर

जैसा मान बैठता है। भोग और शक्ति को ही जीवन का उद्देश्य मानता है। वह मानता है कि "मैं भोगी हूँ और सब मेरी शक्ति से है"। वह स्वयं को सिद्ध, बलवान और सुखी समझता है परंतु उसके भीतर भय, दुःख और असुरक्षा का भाव सदैव विद्यमान रहता है। ऐसा व्यक्ति अहंकार, हिंसा और भोग- वासना में बंध जाता है। उसका मन ईश्वर के बजाय अपने बल और सम्पत्ति पर टिका होता है। इससे बुद्धि भ्रष्ट होती है और पतन निश्चित होता है।

श्लोक 15-16

आसुरी मनुष्य सोचता है- मैं धनवान हूँ, उच्च कुल का हूँ, मेरे बराबर कोई नहीं। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, और ऐश्वर्य-सुख भोगूँगा। ऐसे विचारों से वे अज्ञान में मोहित रहते हैं और असंख्य प्रकार के भ्रम-विचारों से परेशान, मोह के जाल में फँसे, काम-भोग में डूबे हुए वे लोग अशुद्ध नरक में गिरते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान ऐसे पाखण्डी अहंकारी स्वभाव वाले को आसुरी मनुष्य के रूप में बताते हैं। ऐसा आसुरी मनुष्य अहंकार में आकर सोचता है कि 'मेरे जैसा कोई नहीं'। 'मैं यज्ञ, दान, पुण्य करूँगा'- परन्तु उसका यह कर्म केवल दिखावे के लिए होता है। वास्तविक अन्तरात्मा की भावना से नहीं बल्कि सिर्फ नाम-यश और विलास के लिए होता है। ऐसा व्यक्ति धार्मिक कर्म भी अहंकार और भोग-वासना से करता है, इसलिए उसे वास्तविक पुण्य नहीं मिलता। ऐसे लोग हजारों दुनियावी उलझनों में भटके रहते हैं। मोह-वासना की जाल में फँसे इन्द्रिय- भोग में लगे शान्ति नहीं पाते, और उनका नैतिक-आध्यात्मिक पतन हो जाता है। ये लोग सुख खोजते हैं, पर परिणाम में चिंता, अशांति और पतन मिलता है।

श्लोक- 17

वे लोग स्वयं को महान मानते हैं, अहंकारी, धन और अभिमान से भरे रहते हैं। ऐसे लोग दिखावे के लिए यज्ञ करते हैं और वे यज्ञ भी विधि-विधान के अनुसार नहीं करते।

श्लोक-18

वे लोग अहंकार, बल, अभिमान, काम और क्रोध का आश्रय लेकर अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ भगवान से द्वेष करते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान् समझाते हैं कि आसुरी स्वभाव वाले व्यक्ति अहंकार में डूबे रहते हैं और अपने बल और शक्ति का घमंड रखते हैं। वे घोर अभिमान से भरे होते हैं और कामना और क्रोध उनकी जीवन-चालक शक्ति होती है। ऐसी अवस्था में उनका हृदय कठोर हो जाता है और वे भगवान को नहीं मानते और भगवान की सत्ता को ही चुनौती देते हैं। भक्तों और धार्मिक व्यक्तियों से भी द्वेष रखते हैं और अपने और दूसरों में स्थित परमात्मा को भी नहीं पहचानते। उनका जीवन ईश्वर से द्वेष और अहंकार में कटता है।

श्लोक-19

श्रीभगवान कहते हैं- जो लोग घृणित, क्रूर और संसार के सबसे नीच मनुष्य हैं, मैं उन अशुभ आसुरी प्रकृति वालों को बार-बार इस संसार में पापकर्मों वाली आसुरी योनियों में डाल देता हूँ।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान यहाँ बताते है कि जो लोग मुझ भगवान से द्वेष करते हैं। क्रूर स्वभाव वाले हैं, दूसरों का अहित चाहने वाले हैं और धर्म-विरुद्ध कर्मों में लगे रहते हैं। मैं उन्हें निम्न पशु आदि योनियों में डालता हूँ ताकि वे अपने कर्मों का फल भोगें और अंत में सुधर सकें। यह दंड नहीं, बल्कि सुधार का अवसर है।

श्लोक-20

हे अर्जुन! ऐसे मूढ़ यानी अज्ञानी लोग बार-बार आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं। भगवान की प्राप्ति नहीं कर पाते और अंत में अत्यंत अधम गति यानी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

सरल व्याख्या- यह श्लोक हमें सिखाता है कि भगवान भुलाने से पतन, भगवान को अपनाने से उत्थान होता है।

श्लोक-21

यह तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं- काम यानी अधिक इच्छा, क्रोध और लोभ । ये मनुष्य का नाश करने वाले हैं। इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

सरल व्याख्या- काम यानी मन में अनियंत्रित इच्छाओं का उमड़ना, क्रोध यानी इच्छा के बाधित होने पर गुस्सा आना। लोभ यानी जो मिला है उससे संतोष न होना और अधिक की लालसा। ये तीनों आदमी को नीचा गिराते हैं, शांति नष्ट करते हैं और पतन की ओर ले जाते हैं। इसलिए साधक को चाहिए कि वह इच्छाओं का संयम रखे, गुस्से से बचने को धैर्य रखे और जो मिला है उसमें संतोष रखें। इनको त्यागने से मन पवित्र और जीवन उज्जवल होता है। यह प्रकृति का नियम है कि जहाँ अधिक इच्छा है, वहाँ दुःख निश्चित है। जहाँ क्रोध है, वहाँ बुद्धि नष्ट होती है। जहाँ लोभ है, वहाँ धर्म और प्रेम नहीं टिकते। ये मनुष्य को केवल नरक में ही नहीं ले जाते, बल्कि मन को ही नरक बना देते हैं, जो इनसे बच गया- वह धन्य। जो इनमे फँस गया- वह दुःखी। इसलिए भगवान कह रहे- इनको छोड़ो और शांत, संतुष्ट, ईश्वर-भक्त बनो।

श्लोक-22

हे अर्जुन! जो मनुष्य इन तीन नरक के द्वारों यानी काम, क्रोध और लोभ से छूट जाता है, वह अपने कल्याणकारी मार्ग पर चलता है और परम गति यानी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्री भगवान कह रहे है कि जिस व्यक्ति ने इच्छाओं पर नियंत्रण पा लिया, क्रोध को जीत लिया और लालच को त्याग दिया उसका जीवन निर्मल हो जाता है। वह धर्म, सेवा, भक्ति के मार्ग पर चलता है। ऐसे व्यक्ति की जीवन-नैया पार हो जाती है और उसे भगवत-प्राप्ति होती है।

श्लोक-23

जो मनुष्य शास्त्रों की विधि को छोड़कर और अपने मन के अनुसार इच्छाओं के पीछे लगकर चलता है, उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है, और न ही परम गति यानी मोक्ष मिलता है।

श्लोक-24

इसलिए हे अर्जुन! क्या करना है और क्या नहीं करना, इसका निर्णय शास्त्र द्वारा ही प्रमाणित होता है। शास्त्रों की विधि को जानकर उसी के अनुसार कर्म करना चाहिए।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि हमारा अपना मन, बुद्धि, इच्छा- ये सब भ्रमित कर सकते हैं परन्तु शास्त्र भ्रमित नहीं करते, जो साधक शास्त्र में बताए मार्ग को समझकर वैसा आचरण करता है- उसका जीवन सुरक्षित, शुभ और सफल होता है। शास्त्र यानी भगवान की वाणी- इसे मानकर चलने वाला कभी गिरता नहीं।



अध्याय-17



श्लोक-1

अर्जुन बोले-हे कृष्ण! जो लोग शास्त्र-विधि को छोड़कर, फिर भी श्रद्धा के साथ पूजा करते हैं, उनकी श्रद्धा सात्त्विक है, राजसिक है या तामसिक?

सरल व्याख्या- यहाँ अर्जुन श्रीभगवान से पूछते हैं कि कुछ लोग भगवान की पूजा तो करते हैं, लेकिन शास्त्रों के अनुसार नहीं करते। उनकी निष्ठा कैसी मानी जाए? क्या वह शुद्ध यानी सात्त्विक है? या फलों के लोभ में यानी राजसिक है? या अज्ञान और जड़ता वाली यानी तामसिक है?

श्लोक-2

श्रीभगवान बोले- देहधारी मनुष्यों की श्रद्धा तीन प्रकार की होती है- सात्त्विक, राजसिक, तामसिक, जो जैसी प्रकृति वाला होता है, उसी के अनुसार उसकी श्रद्धा होती है। अब तू उसे सुन।

श्लोक- 3

हे भरतवंशी! हर मनुष्य की श्रद्धा उसके स्वभाव के अनुसार होती है। मनुष्य श्रद्धा रूप ही है- वह जिसमें श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बन जाता है। मनुष्य जिसको सर्वोपरि मानता है, वही उसके जीवन की दिशा तय करता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान् के कहने का तात्पर्य है कि जिसे धन में श्रद्धा होती है, वह धन का दास बनता है, जिसे पद के मान में श्रद्धा होती है, उसका मन अहंकार से भरा होता है, जिसे भोग में श्रद्धा होती है, उसका जीवन तुच्छ बनता है, जिसे भगवान में श्रद्धा होती है, वह भगवदस्वरूप बनता है, जिसे तुम पूजते हो, तुम वही बनने लगते हो। इसलिए श्रद्धा भगवान में होनी चाहिए, न कि संसार में।

श्लोक-4

सात्त्विक मनुष्य देवों की उपासना करते हैं। राजसिक लोग यक्षों और राक्षसों की पूजा करते हैं और तामसिक लोग भूत-प्रेत तथा पिशाचों की उपासना करते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे है कि सात्त्विक प्रकृति वाले शांत, पवित्र, कल्याणकारी देवताओं की पूजा करते हैं। राजसिक प्रकृति वाले शक्ति, ऐश्वर्य, लाभ के लिए यक्षों व राक्षसों की पूजा करते हैं। तामसिक प्रकृति वाले अंधविश्वास, डर, हिंसा, तंत्र-मंत्र, भूत प्रेत आदि में श्रद्धा रखते हैं। मनुष्य की पूजा और साधना उसकी प्रकृति का दर्पण है।

श्लोक-5

जो लोग शास्त्रों के अनुसार न चलकर, अपनी मनमानी से बहुत कठोर और भयानक तप करते हैं- वे दंभ और अहंकार से भरे हुए होते हैं तथा कामनाओं के वश में रहते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि ऐसे मनुष्य तप तो करते हैं परन्तु ईश्वर के लिए नहीं, बल्कि दिखावे के लिए यानी दंभ के लिए, अहंकार बढ़ाने के लिए और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कठोर साधनाएँ करके वे सोचते हैं कि 'हम बहुत बड़े साधक हैं', परन्तु यह साधना नहीं, आसुरी प्रवृत्ति है। उनका यह तप मन को कठोर बनाता है, हृदय में नम्रता नहीं आने देता और भगवान की ओर नहीं ले जाता। इसलिए भगवान बताते हैं- ऐसा तप व्यर्थ और हानिकारक है।

श्लोक-6

जो लोग शास्त्र-विरुद्ध आचरण करके अपने शरीर को और उसमें निवास करने वाले देवतुल्य तत्वों यानी इन्द्रियों आदि को कष्ट देते हैं और भीतर स्थित परमात्मा से भी कष्ट समान व्यवहार करते हैं- उनको तू निश्चित ही आसुरी निश्चय वाला समझ।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि कुछ लोग गलत प्रकार से तप करते हैं, जिससे शरीर को अनावश्यक यातना होती है। प्रकृति के गुण दूषित होते हैं और मन कठोर होता जाता है। अंतःकरण शुद्ध नहीं होता। वे सोचते हैं कि "हम बहुत बड़े तपस्वी हैं" पर वास्तव में वे मूर्ख हैं। शरीर को कष्ट पहुँचाना, वास्तव में उसके साथ-साथ अन्दर बैठे भगवान को भी पीड़ा पहुँचाना है। ऐसे लोग भगवान पर भरोसा नहीं करते, अपने अहंकार से चलकर तप करते हैं। इसलिए भगवान कहते हैं कि इन्हें आसुरी वृत्ति वाला जानो।

श्लोक-7

सब मनुष्यों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार भोजन भी तीन प्रकार का प्रिय होता है और यज्ञ, तप व दान भी तीन प्रकार के होते हैं। उनका भेद तू मुझसे सुन।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि मनुष्यों की वृत्ति जैसी होती है वैसा ही उनका खाना, पूजा-पाठ, तप और दान भी होता है।

श्लोक-8

जो भोजन आयु बढ़ाता है, बल देता है, मन को शुद्ध करता है, स्वास्थय देता है, सुख व प्रसन्नता बढ़ाता है, स्वादिष्ट व पोषक होता है, शरीर को स्थिरता देता है और हृदय को प्रिय लगता है, ऐसा भोजन सात्त्विक मनुष्यों को प्रिय होता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि सात्त्विक मनुष्य वही भोजन करता है जो शरीर व मन दोनों के लिए हितकारी हो, जिसमें अधिक मसाला, मिर्च व उत्तेजना न हो, जो सरल, शुद्ध व पचने में हल्का हो, स्वाभाविक रसयुक्त हो यानी प्राकृतिक हो। ऐसा भोजन अहंकार, क्रोध व काम को नहीं बढ़ाता, बल्कि शांति, चित्तशुद्धि और स्थिरता देता है। सात्त्विक भोजन से मन सात्त्विक बनता है।

श्लोक-9

जो भोजन बहुत कड़वा, बहुत खट्टा, बहुत नमकीन, बहुत गरम, बहुत तीखा, रूखा व शरीर में जलन पैदा करने वाला हो, ऐसा भोजन राजस स्वभाव वालों को प्रिय है। यह भोजन दुःख, शोक और रोग पैदा करता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि राजस व्यक्ति इन्द्रियों के स्वाद व उत्तेजना के पीछे भागता है। इसलिए वह ऐसा भोजन पसंद करता है जो उत्तेजना दे, स्वाद में तीक्ष्ण हो और जीभ को सुख दे, किन्तु ऐसा भोजन मन को अशांत और शरीर को बीमार करता है। ऐसा भोजन क्रोध, काम व बेचैनी बढ़ाता है और मन में चंचलता और असंतुलन पैदा करता है। ऐसा भोजन अंत में दुःख और रोग देता है। राजस भोजन का परिणाम है बेचैनी, तनाव और दुःख।

श्लोक-10

जो भोजन बहुत देर पड़ा रहे यानी बासी हो, जिसका रस और ताजगी नष्ट हो गई हो, जो सड़ा-गला हो या दुर्गंध वाला हो, किसी के खाने से जूठा बचा हुआ हो तथा अशुद्ध और अपवित्र हो, ऐसा भोजन तामसिक लोगों को प्रिय होता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि तामसिक व्यक्ति को शुद्धता का ध्यान नहीं होता, न ताजगी का महत्व, न पवित्रता का भाव, वह स्वाद के चक्कर में जैसा मिला वैसा खा लेता है। वह अशुद्ध, बासी और अपवित्र भोजन खाता है। ऐसा भोजन मन को भारी करता है, आलस्य, प्रमाद व अज्ञान बढ़ाता है और शरीर में रोग लाता है। यही नहीं बल्कि ऐसा भोजन आध्यात्मिक उन्नति में बाधा देता है।

श्लोक-11

जो यज्ञ यानी पूजा-उपासना शास्त्र की विधि और बिना फल की इच्छा से किया जाए। यह सोचकर कि 'यह करना मेरा कर्तव्य है' वह यज्ञ सात्त्विक है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि सात्त्विक साधक ऐसा यज्ञ-पूजा करता है जिसमें फल की इच्छा नहीं होती तथा शांति और स्थिर भाव होता है। वह पूजन कर्तव्य-भाव से करता है। उसके मन में भगवान के लिए प्रेम और श्रद्धा होती है। वह सोचता है कि 'भगवान ने जो शरीर, जीवन व साधन दिए हैं, उनके प्रति कृतज्ञ होकर यह पूजा करना मेरा कर्त्तव्य है।' ऐसे साधक का यज्ञ मन को शुद्ध करता है, अहंकार नहीं बढ़ाता।

श्लोक-12

जो यज्ञ (पूजा या साधना) फल की इच्छा से किया जाए या दिखावे के लिए किया जाए। हे अर्जुन, उसे राजस यज्ञ जानो।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि राजस साधक यज्ञ या पूजा तो करता है, परन्तु उसके मन में फल पाने की इच्छा होती है- कि "भगवान मुझे यह दे दें, वह दे दें।" या फिर दिखावे के लिए करता है कि "लोग देखें कि मैं कितना धार्मिक हूँ।" ऐसी पूजा में भक्ति नहीं होती और न ही विनम्रता

होती है। ऐसा राजस व्यक्ति का ईश्वर के लिए शुद्ध प्रेम नहीं होता बल्कि उसका ध्यान फल पर होता है, भगवान पर नहीं। इसलिए यह पूजा मन को निर्मल न बनाकर, इच्छाएँ और अहंकार बढ़ाती है।

श्लोक-13

ऐसे यज्ञ को तामसिक कहा गया है, जो बिना शास्त्र विधि के हो, भोजन बिना भगवान को अर्पित किये हो, बिना मंत्र के हो, बिना दान या सेवा के हो और जिसमें श्रद्धा न हो।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि तामस मनुष्य पूजा तो करता है, लेकिन शास्त्र के अनुसार नहीं करता। उसके न मन में श्रद्धा होती है और न ही विनम्रता। वह भगवान को कुछ अर्पित नहीं करता मंत्र, स्मरण, भावना, न सेवा, न दान और न ही प्रेम। ऐसी पूजा बस शरीर से, दिखावे से या आदत से होती है। अन्दर भाव शून्य- बाहर यंत्रवत कर्म। ऐसी तामसिक पूजा मन को शुद्ध नहीं करती, बल्कि अज्ञान और जड़ता बढ़ाती है।

श्लोक-14

देवताओं, ब्राह्मणों, गुरु और ज्ञानी पुरुषों का पूजन करना, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर द्वारा किया जाने वाला तप कहा जाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि शरीर से जो तप किए जाते हैं, वे हैं- भगवान तथा संत-ज्ञानी जनों का आदर, बाहरी और अंदरूनी पवित्रता, व्यवहार में सीधापन व सादगी, ब्रह्मचर्य (इन्द्रियों पर संयम), अहिंसा यानी शरीर, कर्म और व्यवहार से किसी को चोट न पहुँचाना। इनसे मनुष्य का शरीर पवित्र बनता है और जीवन दिव्य मार्ग पर चलता है। इन्हें पालन करने वाला व्यक्ति आत्मिक उन्नति की ओर बढ़ता है। शारीरिक तप का अर्थ शरीर को कष्ट देना नहीं, बल्कि शरीर को धर्म और साधना में लगाना है।

श्लोक-15

जिस वाणी से किसी को कष्ट न हो, जो सत्य, प्रिय और हितकारी हो तथा जिससे वेद-शास्त्रों के पठन-पाठन का अभ्यास किया जाये। वह वाणी का तप कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि वाणी भी तप साधना का मार्ग है। ऐसी वाणी बोलना जिससे किसी को दुःख न पहुँचे। वाणी का सत्य होना, मीठा और शुभ बोलना, शास्त्रों, सत्संग, नाम-स्मरण आदि का अभ्यास करना, वाणी द्वारा किया जाने वाला तप है। बिना सोचे-समझे बोलना- वाणी का अपव्यय है। मर्यादा और प्रेम से बोलना- वाणी का तप है। सत्य भी ऐसा हो जो हृदय को मोह ले, न कि हृदय में चुभे। कटु सत्य बोलने को धर्म नहीं कहते, सत्य को मिठास में लपेटकर हित के लिए बोलना- धर्म है।

श्लोक-16

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, मन का संयम और भावों की पवित्रता- ये मन का तप कहलाते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि बाहरी तप से पहले अन्तःकरण का तप आवश्यक है। मन का तप है- मन को निरन्तर प्रसन्न रखना, कोमल, शांत और प्रेमपूर्ण वृत्ति रखना, व्यर्थ विचारों को रोकना, मन को विषयों की तरफ न दौड़ने देना, हृदय की शुद्धता, किसी के प्रति द्वेष नहीं, मन का शांत और पवित्र होना ही असली तप है। वाणी मौन हो जाए-यह छोटा मौन है। विचार मौन हो जाएँ- यह बड़ा मौन है। मन को कोई विकार न हिला सके- यह साधक की विजय है।

श्लोक-17

यहाँ श्रीभगवान बता रहे हैं कि साधक जब श्रद्धा से, एकाग्रता से, बिना किसी लाभ की इच्छा के और ईश्वर समर्पण भाव से तप करता है, तब वह सात्त्विक तप कहलाता है। साधक का भाव- "मैं ईश्वर को प्रसन्न करने हेतु यह तप करता हूँ, मुझे इसके बदले कुछ नहीं चाहिए।" ऐसा तप मन को निर्मल करता है और ईश्वर के निकट ले जाता है।

श्लोक-18

जो तप सत्कार, मान और पूजा को प्राप्त करने के लिए और दंभ यानी दिखावे से किया जाता है, वह यहाँ राजस कहा गया है। वह अस्थिर और क्षणिक है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान बता रहे हैं कि यदि कोई मनुष्य तप, पूजा, यज्ञ, दान, व्रत आदि इसलिए करता है कि लोग हमारी प्रशंसा करें, हमें सम्मान मिले, लोग हमें बड़ा साधु समझें और हमारा मान बढ़े तो वह तप राजस है। ऐसे तप का फल क्षणिक है। यह ना मन को शुद्ध करता है, ना ईश्वर-प्राप्ति देता है। ऐसे तप में ध्यान ईश्वर पर नहीं बल्कि स्वयं को बड़ा दिखाने पर होता है। इसलिए यह तप स्थिर फल नहीं देता।

श्लोक-19

जो तप मूर्खतापूर्वक, अपने शरीर को कष्ट देने से तथा दूसरों को दुःख पहुँचाने के लिए किया जाता है- वह तामस तप कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान बता रहे हैं कि जिस तप को बिना समझ के शरीर को कष्ट देकर किया जाता है तथा दूसरों को नीचा दिखाने के लिए या बदला लेने की भावना से व्रत या अनुष्ठान किया जाता है, वह तामसी तप होता है।

श्लोक-20

जो दान कर्तव्य समझकर, बिना किसी प्रत्युपकार की इच्छा के, उचित स्थान, उचित समय और योग्य व्यक्ति को दिया जाता है- वह सात्त्विक दान कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि सच्चा दान वह है जो कर्त्तव्य समझकर दिया जाए, बिना किसी स्वार्थ, बदले की आस के या नाम-शोहरत की इच्छा के योग्य व्यक्ति को दिया जाए तथा जो समय और परिस्थिति के अनुसार सही जगह दिया जाए। दान दिल से होना चाहिए, बदले की आशा से नहीं। "मैं इसलिए देता हूँ क्योंकि यह मेरा धर्म है।" ऐसा दान मन को निर्मल करता है और ईश्वर-प्रसाद समान होता है।

श्लोक-21

जो दान प्रत्युपकार की इच्छा से अथवा फल की इच्छा से और कष्ट के साथ यानी मन मारकर दिया जाता है- वह राजस दान कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि वह दान राजसी है जिसे हम लाभ लेने के लिए करें, जिसमे बदले में कुछ पाने की उम्मीद हो, नाम मिले, सम्मान मिले-ऐसी इच्छा हो। दान करते समय मन में खींचतान और दुःख हो, मन न चाहता हो और हृदय से न निकले। "मैंने तुम्हें दिया था, अब तुम मेरे काम आओ"-यह राजसी भाव है। ऐसा दान पुण्य को कम करता है और हृदय शुद्ध नहीं करता।

श्लोक-22

जो दान अनुचित स्थान और समय पर, अयोग्य व्यक्ति को और अपमानपूर्वक, तिरस्कार के साथ दिया जाता है वह तामस दान कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि वह दान तामस है, जो अनुचित स्थान, अनुचित समय व अनुचित व्यक्ति को दिया जाता है। यहाँ दान देने वाला अपमान, घमण्ड, तिरस्कार से दान देता है। यहाँ दान में प्रेम नहीं, अहंकार, रूखापन, गुस्सा, उदासीनता है। ऐसा दान पाप का कारण भी बन सकता है क्योंकि उससे न देने वाला सुधरता है, न पाने वाला। बिना सम्मान के दिया गया दान, दान नहीं, हृदय को मलिन करने वाला कर्म है।

श्लोक-23

ऊँ, तत्, सत्-यह परमात्मा का त्रिविध नाम है। प्राचीन काल में इसी नाम से वेदों और यज्ञों की स्थापना ब्राह्मणों ने की थी।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि सृष्टि के आरम्भ से ही ऊँ, तत्, सत्- ये तीन परमात्मा-तत्त्व को सूचित करने वाले शब्द हैं। इन्हीं के आधार से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ और सभी शुभ-कर्म, यज्ञ आदि विहित हुए। ईश्वर का सार रूप ऊँ, तत्, सत् है। ये तीन शब्द शुद्ध, सात्त्विक, ईश्वर-समर्पित भाव को प्रकट करते हैं। यज्ञ-दान-तप जैसे कार्य तभी पवित्र होते हैं जब 'ऊँ' से आरम्भ, 'तत्' यानी ईश्वर को समर्पण भाव से, और 'सत्' यानी सत्य-भाव से किए जाएँ। इसीलिए शास्त्रों ने कहा है कि कर्म ईश्वर को

अर्पित करके सत्य-भाव से करो, तभी फल शुद्ध मिलता है, जब भी कोई शुभ कार्य करें-ऊँ तत्य सत् का भाव रखे। इससे कर्म असत्य-अहंकारमय नहीं, बल्कि ईश्वर-समर्पित हो जाता है।

श्लोक-24

इसलिए ब्रह्म को जानने वाले महापुरुष शास्त्रों के अनुसार यज्ञ, दान और तपादि क्रियायें 'ऊँ' का उच्चारण करके सदा आरम्भ करते हैं।

सरल व्याख्या- यह श्लोक सिखाता है- हर शुभ कार्य ईश्वर का स्मरण करके आरम्भ करो। तभी वह पुण्य और कल्याणकारी बनता है। कोई भी कार्य प्रारम्भ करें- चाहे पूजा हो या ऑफिस का काम, व्यापार में नया सौदा, नई यात्रा, भोजन शुरू करते समय, पढ़ाई शुरू करते समय, बस मन ही मन कहें- ऊँ और भाव रखें- हे भगवान, यह आपका ही कार्य है।

श्लोक-25

मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुष फल की इच्छा न करते हुए 'तत्' का उच्चारण करके यज्ञ, तप और दान आदि विविध कर्म करते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि फल की आसक्ति त्यागकर भगवान को समर्पित होकर कर्म करो। यही मोक्षमार्ग है। दान करते समय मन में यह भाव न हो कि लोग मुझे दानी कहें बल्कि भाव हो- यह सब प्रभु का है और उन्हीं को समर्पित है।

श्लोक-26

'सत्' शब्द का प्रयोग सत्य और सद्भाव के अर्थ में होता है और प्रशंसनीय तथा श्रेष्ठ कर्म में भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि 'सत्' का अर्थ है- सत्य, पवित्रता व श्रेष्ठता, जहाँ सच्चाई, पुण्य, शुभ-भाव, भलाई होती है वहाँ 'सत्' होता है, जो कर्म शुद्ध भाव से किए जाते हैं, वे 'सत्कर्म' हैं।

श्लोक-27

यज्ञ, तप और दान में स्थिरता भी 'सत्' कहलाती है और जो कार्य केवल भगवान के लिए किया जाए, वह भी 'सत्' कहलाता है।

श्लोक-28

हे अर्जुन। बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दान, तप और अन्य कर्म 'असत्' कहलाता है, ऐसा कार्य न इस लोक में फल देता है, और न ही परलोक में।

सरल व्याख्या- धर्म-कर्म यदि श्रद्धा, प्रेम और ईश्वरभाव के बिना है तो वह असत् है। बाहरी रूप से बड़ा काम दिखे चाहे वह दान, यज्ञ, पूजा, तप, सेवा किन्तु यदि मन में श्रद्धा नहीं तो उसका मूल्य शून्य है। कर्म का महत्व नहीं- भाव का महत्व है। श्रद्धा-विहीन कर्म न संसार में सुख देता है, न भगवान को भाता है। ऐसा कर्म केवल दिखावा, अहंकार, आदत या मजबूरी होता है। ईश्वर को कर्म नहीं चाहिए बल्कि भाव चाहिए। श्रद्धा के बिना धर्मकर्म सूखा ढाँचा है।



अध्याय-18

श्लोक-1

अर्जुन बोले-हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्याग- इन दोनों का तत्त्वभेद जानना चाहता हूँ।

सरल व्याख्या- यहाँ अब अर्जुन पूछते हैं- "प्रभु, मुझे यह समझाइए कि संन्यास और त्याग में क्या अंतर है?' दोनों का वास्तविक अर्थ क्या है?" क्योंकि पहले भगवान ने कहा था कि कर्म का त्याग न करो, फिर कहा कि आसक्ति और फल का त्याग करो। इसलिए अर्जुन को भ्रम हुआ कि संन्यास और त्याग में क्या भेद है? अर्जुन समझना चाहता है- क्या है ईश्वर भक्ति का अर्थ ? क्या कर्म छोड़ देना संन्यास है? या कर्म करते हुए उसमें आसक्ति छोड़ देना त्याग है?

श्लोक-2

भगवान श्रीकृष्ण बोले- ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि कामना से किए जाने वाले कर्मों का त्याग ही संन्यास है और सभी कर्मों के फल का त्याग- यह त्याग कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान अब अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं- संन्यास यानी कामना से प्रेरित कर्मों का त्याग करना और त्याग यानी कर्म तो करना, पर फल की आसक्ति और स्वार्थ छोड़ देना। संन्यासी वह नहीं जो कर्म छोड़ दे, बल्कि वह जो कामना छोड़ दे। यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं-"हे अर्जुन! जिन कर्मों के पीछे कामना (स्वार्थ या फल की चाह) हो, उनका त्याग- वही संन्यास है" और "जब कोई व्यक्ति सब कर्मों को भगवान को अर्पण करके उनके फल की चिंता और अधिकार छोड़ देता है- वह 'त्यागी' कहलाता है।" कामना से किया गया कर्म बाँधता है। कर्तव्यभाव से किया गया कर्म-मुक्त करता है। त्याग का अर्थ है-कर्म को भगवान को समर्पित कर देना।

श्लोक-3

कुछ विद्वान कहते हैं कि कर्म क्योंकि वह दोषों से युक्त है इसलिए त्याग करने योग्य है, परन्तु अन्य ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप जैसे कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान के कहने का तात्पर्य है कि कुछ साधक केवल शांति चाहते हैं, तो वे कर्म को "दोषयुक्त" मानकर छोड़ देते हैं-जैसे, कर्म में राग-द्वेष, अहंकार, थकान, मोह आदि आ जाता है परन्तु सच्चे ज्ञानी समझते हैं कि "कर्म स्वयं दोषयुक्त नहीं है, दोष हमारे भीतर की आसक्ति में है।" इसलिए यज्ञ, दान, तप जैसे शुद्ध करने वाले कर्मों का त्याग नहीं, अभ्यास होना चाहिए।

श्लोक-4

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! सभी ज्ञानी मुनियों ने विचारपूर्वक यह कहा है कि त्याग तीन प्रकार का होता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान अब साधक को सिखाने जा रहे हैं कि कोई व्यक्ति अज्ञान से कर्म को त्याग देता है जो तामस त्याग कहलाता है, कोई व्यक्ति कष्ट या भय के कारण कर्म छोड़ता है जो राजस त्याग कहलाता है और कोई कर्म करता है पर उसके फल व अहंकार को छोड़ देता है जो सात्त्विक त्याग कहलाता है। इसलिए त्याग का मापदंड बाहरी नहीं, भीतर का भाव है।

श्लोक-5

यज्ञ, दान और तप- इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये कर्म नित्य कर्त्तव्य हैं और ये बुद्धिमान पुरुषों को अत्यन्त पवित्र करने वाले हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान बता रहे हैं कि इन तीनों कर्मों का उद्देश्य मन, वाणी और शरीर की शुद्धि है। यज्ञ यानी पूजा, जप, आराधना जो ईश्वर से संबंध जोड़ता है, दान यानी सेवा, परोपकार जो दूसरों से प्रेम जोड़ता है, तप यानी संयम, अनुशासन जो स्वयं पर नियंत्रण लाता है। इन तीनों का अभ्यास करने वाला साधक धीरे-धीरे 'मैं' और 'मेरा' के भाव से मुक्त होता है। इन्हें त्याग देना, आत्मिक जीवन को सूखा बना देना है।

श्लोक-6

इसलिए हे पार्थ! यद्यपि यज्ञ, दान और तप जैसे कर्मों को नहीं त्यागना चाहिए, परन्तु उनमें आसक्ति और फल की इच्छा त्यागकर, उन्हें कर्त्तव्यभाव से करना चाहिए। यह मेरा उत्तम और निश्चित मत है।

सरल व्याख्या- यहाँ भाव यह है कि सेवा करते समय फल की इच्छा छोड़कर प्रेम के भाव से सेवा करो। दान देते समय बिना अहंकार या दिखावे के दान करो। परिवार का कर्त्तव्य निभाओ तो उसे भगवान का आदेश समझकर करो। साधना या पूजा करो तो समर्पण भाव से, अपेक्षा रहित होकर करो। इस श्लोक का सार यह है कि कर्म मत छोड़ो- वह तो आत्मा का धर्म है। केवल "मैं और मेरा" का भाव छोड़ दो- वही मोक्ष का मार्ग है।

श्लोक-7

कर्त्तव्य कर्मों का त्याग उचित नहीं है और जो व्यक्ति मोह या अज्ञानवश उन कर्मों का त्याग करता है, उसका त्याग तामस कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान का भाव है कि परिवार, समाज, ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्य कर्म मत छोड़ो। "थक गया हूँ, अब कुछ नहीं करूंगा"- यह मोहजनित आलस्य है। कर्म में रहते हुए मन को निर्मल करना ही सच्चा योग और त्याग है। भगवान कर्म में ही मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं, कर्म-त्याग में नहीं।

श्लोक-8

जो व्यक्ति किसी कर्म को कि "यह दुःखदायी है" ऐसा समझकर शरीर के कष्ट के भय से त्याग देता है, उसका त्याग राजसी कहा गया है और ऐसा त्याग फल नहीं देता यानी पुण्यकारी नहीं होता।

श्लोक-9

जो व्यक्ति अपना कर्तव्य कर्म इस भाव से करता है, कि "यह मेरा धर्म है" परन्तु आसक्ति और फल की इच्छा छोड़ देता है, उसका त्याग सात्त्विक कहा गया है।

सरल व्याख्या- सात्त्विक त्यागी वह है जो कहता है कि "कर्म तो मेरा धर्म है। मैं ईश्वर की आज्ञा से इसे करता हूँ। इसका परिणाम क्या होगा, यह मैं नहीं सोचता।" वह न कर्म से भागता है, न फल की आसक्ति रखता है। वह केवल भगवान की प्रसन्नता के लिए कर्म करता है। उसका कर्म भगवान के लिए होता है और वह परिणाम भगवान पर छोड़ देता है। यही सात्त्विक त्याग कहलाता है।

श्लोक- 10

जो त्यागी व्यक्ति अप्रिय कर्म से घृणा नहीं करता और प्रिय कर्म में आसक्त नहीं होता, वह सत्त्वगुण से युक्त, मेधावी और संशयरहित होता है।

सरल व्याख्या- त्यागी का मन सत्त्वगुण से युक्त होता है। वह शांत, संतुलित और विवेकशील होता है। "कर्म प्रिय हो या अप्रिय, मैं उसे भगवान का आदेश समझकर करता हूँ।" यही सच्चा त्याग है। उसका हृदय निर्मल है, इसलिए उसके भीतर संशय या भ्रम नहीं रहते। वह जानता है कि "सभी कर्म परमेश्वर की योजना का हिस्सा हैं, मैं केवल उपकरण मात्र हूँ।"

श्लोक-11

शरीरधारी मनुष्य के लिए सभी कर्मों का पूर्ण रूप से त्याग करना सम्भव नहीं है, परन्तु जो व्यक्ति कर्म के फल का त्याग करता है, वही सच्चा त्यागी कहा जाता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि "जब तक शरीर है, तब तक कर्म होंगे ही आँखे हैं तो वे देखेंगी, कान हैं तो वे सुनेंगे, पेट है तो भोजन करना ही होगा, इस प्रकार कर्म का त्याग करना शरीरधारी मनुष्यों के लिए असंभव है, परन्तु मनुष्य का अधिकार केवल एक ही त्याग में है वह है कर्म के फल का त्याग। कर्म भगवान को अर्पित करो, फल की चिंता छोड़ दो, यही सच्चा त्याग है।

श्लोक-12

कर्म का फल तीन प्रकार का होता है- शुभ, अशुभ और मिश्रित। ये तीनों फल केवल त्याग न करने वालों को इस लोक और परलोक में मिलते हैं, परन्तु सच्चे सन्यासी यानी फलत्यागी को इनमें से कोई फल नहीं मिलता।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान बताते हैं कि "जब मनुष्य कर्म करता है फल की इच्छा से, तो उसे तीन प्रकार के परिणाम भोगने पड़ते हैं- सुख यानी शुभ, दुःख यानी अशुभ या दोनों का मिश्रण," लेकिन जब वही कर्म ईश्वर-अर्पण भाव से किया जाता है, तो साधक फल से मुक्त हो जाता है और उसके कर्म उसे बाँधते नहीं। कर्म का फल केवल आसक्ति वाले को बाँधता है, समर्पण वाले को नहीं।

श्लोक-13

हे महाबाहो अर्जुन! सभी कर्मों की सिद्धि यानी पूर्णता के लिए जो पाँच कारण बताए गए हैं, उन्हें तू मुझसे सुन- वे सांख्य यानी तत्त्वज्ञान में प्रतिपादित हैं।

श्लोक-14

किसी भी कर्म की सिद्धि में पाँच कारण होते हैं- शरीर, कर्ता, इन्द्रियाँ, भिन्न-भिन्न प्रयास , और दैव यानी ईश्वर या नियति।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि "हे अर्जुन! कोई भी कर्म इन पाँच कारणों से पूर्ण होता है। इसलिए 'मैं ही सब कुछ करता हूँ' ऐसा मानना अज्ञान है।" कर्म में न केवल कर्ता व्यक्ति होता है, बल्कि शरीर, इन्द्रियाँ, वातावरण, समय, परिस्थिति और ईश्वर की इच्छा- ये सब मिलकर कर्म व परिणाम उत्पन्न करते हैं।

प्रत्येक कर्म के ये पांच कारण होते हैं-

अधिष्ठान (शरीर)	-	यह कर्म का आधार है- बिना शरीर के कर्म नहीं हो सकता।
कर्ता (जीव)	-	जो कर्म करने की इच्छा रखता है।
करण (इन्द्रियाँ)	-	कर्म के उपकरण- हाथ, पैर, वाणी, मन आदि।
चेष्टा (प्रयत्न)	-	प्रेरणा, मेहनत, प्रयास -जो कर्म को आगे बढ़ाते हैं।
दैव (ईश्वर)	-	वह अदृश्य शक्ति जिसमे समय, अवसर, संयोग व भाग्य समाहित रहते हैं जो कर्म के परिणाम को नियन्त्रित करती है।

मनुष्य केवल एक "सहायक तत्व" है, सम्पूर्ण कार्य ईश्वर की योजना और प्रकृति के माध्यम से होता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि - जब भी कोई कार्य सफल हो- अहंकार न करें, जब भी असफलता मिले- दोष दूसरों को न दें, सोचें- "सब भगवान की योजना का भाग है।" ईश्वर को कर्ता मानो, स्वयं को माध्यम। कर्म में विनम्रता ही सच्चा ज्ञान है।

श्लोक-15

मनुष्य शरीर, वाणी और मन से जो भी कर्म करता है- चाहे वह उचित हो या अनुचित, उसके पाँच कारण (शरीर, कर्ता, इन्द्रियाँ, प्रयत्न और दैव) ही बताए गए हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि कर्म तीन साधनों से होता है- मन, वाणी और शरीर से और इन तीनों के पीछे पिछले श्लोक में बताए पाँच कारण सक्रिय रहते हैं। इसलिए जब कोई व्यक्ति किसी

कार्य की सफलता पर गर्व करता है, तो वह अज्ञान का शिकार होता है। उसे यह नहीं दिखता कि ईश्वर की प्रेरणा, शरीर की क्षमता, इन्द्रियों की सहायता और समय की अनुकूलता- इन सबने मिलकर वह कर्म सम्पन्न किया है। "मैंने किया"- यही अहंकार है और यही बंधन का बीज है।

श्लोक-16

परन्तु, हे अर्जुन! इन पाँच कारणों के रहते भी जो व्यक्ति केवल अपने को ही कर्मों का कर्ता मानता है, वह अविवेकी है और सत्य को नहीं देख पाता। वह मूढ़ बुद्धि वाला कहलाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि कर्तापन का भाव- यह सबसे गहरा अज्ञान है, जब तक मनुष्य सोचता है कि "मैं करता हूँ", तब तक वह अपने को शरीर, मन और इन्द्रियों के साथ जोड़े रखता है। वह यह नहीं जानता कि शरीर प्रकृति का है, इन्द्रियाँ भगवान की शक्ति से चलती हैं, मन और बुद्धि भगवान से प्रेरित हैं और परिणाम भगवान की इच्छा पर निर्भर है। इसलिए "मैं करता हूँ" कहना वास्तव में अज्ञान है, जो यह जानता है कि भगवान ही सब करा रहे हैं, वही सच्चा ज्ञानी और त्यागी है।

श्लोक-17

जिस मनुष्य में 'मैं करता हूँ' का अहंकार नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्म में लिप्त नहीं होती, वह इन सब लोगों को मार डालने पर भी न तो वास्तव में मारता है और न ही कर्म के बंधन में पड़ता है।

सरल व्याख्या- भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- "जो व्यक्ति 'मैं करता हूँ' की भावना छोड़ देता है और जिसके भीतर शुद्ध बुद्धि ईश्वर-भाव में रहती है, वह चाहे कितना भी बड़ा कर्म करे। वह कर्म उसे बाँधता नहीं।" ऐसा व्यक्ति कर्म करता है, पर उसके भीतर कर्तापन नहीं, बल्कि ईश्वर की प्रेरणा और समर्पण का भाव रहता है। वह जानता है- "भगवान ही सब करा रहे हैं।" इसलिए उसके कर्म पवित्र हो जाते हैं और वह कर्म करते हुए भी अकर्म का अनुभव करता है।

श्लोक-18

ज्ञान (जानने योग्य वस्तु), ज्ञाता (जानने वाला) और परिज्ञाता (ज्ञेय का ज्ञान) — ये तीनों प्रकार की 'कर्मचोदना' (कर्म को प्रेरित करने वाले कारक) हैं। करण (साधन), कर्म (क्रिया) और कर्ता — ये तीनों 'कर्मसंग्रह' (कर्म के आधार) हैं।

सरल व्याख्या- इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण ने यह समझाया है कि कोई भी कार्य कैसे प्रेरित होता है और उसके पीछे कौन-कौन से तत्व कार्य करते हैं-

1. **कर्म की प्रेरणा (कर्मचोदना)-** किसी भी काम को करने की इच्छा तीन चीजों से पैदा होती है:
    - **ज्ञाता-** वह व्यक्ति जो जानता है।
    - **ज्ञेय-** वह विषय या वस्तु जिसे जाना जाना है (लक्ष्य)।
    - **परिज्ञाता (ज्ञान)-** उस विषय का वास्तविक ज्ञान। जब तक किसी कार्य को करने का ज्ञान और लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता, तब तक प्रेरणा नहीं जागती।

2. **कर्म का आधार (कर्मसंग्रह)-** कार्य पूर्ण होने की प्रक्रिया भी तीन चीजों पर निर्भर करती है:
    - **करण-** वे साधन या उपकरण जिनसे कार्य किया जाता है (जैसे शरीर, मन, इंद्रियाँ)।
    - **कर्म-** वह स्वयं की क्रिया या कार्य।
    - **कर्ता-** वह व्यक्ति जो उस कार्य को कर रहा है।

तात्पर्य- श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन को यह समझा रहे हैं कि कर्म की उत्पत्ति से लेकर उसकी समाप्ति तक ये छह तत्व (3 प्रेरणा के और 3 संपादन के) मिलकर कार्य करते हैं। एक ज्ञानी पुरुष वह है जो इन तत्वों के पीछे छिपे वास्तविक सत्य को समझता है और अहंकार से मुक्त होकर अपने कर्तव्यों का पालन करता है।

श्लोक-19

ज्ञान, कर्म और कर्ता- ये तीनों ही सत्त्व, रज और तम- इन गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के कहे गए हैं। अब तू उन्हें मुझसे यथार्थ रूप में सुन।

श्लोक-20

जिस ज्ञान से मनुष्य सभी प्राणियों में एक ही अविनाशी आत्मा को देखता है, जो विभक्त शरीरों में भी अविभक्त रूप से स्थित है, वह ज्ञान सात्त्विक कहा गया है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि "सात्त्विक ज्ञान वह है जो सबमें एक ही परमात्मा को देखता है।" वह ज्ञान यह समझता है कि सब जीवों के शरीर तो अलग-अलग हैं, परन्तु उनमें जो चेतना यानी आत्मा है, वह एक ही है। जैसे- कई घड़ों में अलग-अलग पानी है, पर जब घड़े टूट जाएँ, तो पानी एक ही हो जाता है। वैसे ही सब शरीरों में एक ही परमात्मा विद्यमान है। यह ज्ञान द्वैत को मिटाकर एकत्व का अनुभव कराता है। यह ज्ञान ईश्वर-भाव को हर दिशा में देखता है। "जो सबमें परमात्मा को और परमात्मा में सबको देखता है- वही सच्चा ज्ञानी है।"

श्लोक-21

परन्तु जो ज्ञान सब प्राणियों में अलग-अलग स्वभाव, रूप और भावों को ही सत्य मानता है और भिन्नता को ही देखता है, वह ज्ञान राजस कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि "जो व्यक्ति सब प्राणियों में 'अलग-अलग सत्ता' देखता है, जो यह मानता है कि-'यह मैं हूँ, यह तू है, यह मेरा है, यह तेरा है,' वह ज्ञान राजस यानी रजोगुणयुक्त होता है।" राजस ज्ञान एकता नहीं, अनेकता को देखता है। वह बाहरी रूपों में भेदभाव देखता है- जाति, वर्ण, धन, प्रतिष्ठा, रूप, शक्ति आदि में अंतर देखता है। ऐसा ज्ञान अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित होता है। इसलिए उससे आसक्ति, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और दुःख उत्पन्न होता है। "राजस ज्ञान" वह है जो आत्मा के एकत्व को नहीं पहचानता। वह बाहरी भेदों को ही वास्तविक मानता है, जैसे-"मैं अलग हूँ, यह मेरा परिवार अलग है, यह मेरा मित्र है, वह शत्रु है, यह मेरा लाभ है, यह उसका।" यह ज्ञान मोह और कर्मबंधन

की जड़ है। ऐसा व्यक्ति "कर्तापन" और "स्वामित्व" में जीता है। वह कर्म भी करता है, पर फल की आसक्ति से बँध जाता है।

श्लोक-22

जो ज्ञान किसी एक कार्य या वस्तु में सम्पूर्ण सत्य को मान लेता है, जो बिना कारण उसी में आसक्त रहता है, जो तत्त्व को नहीं समझता और संकीर्ण है, वह ज्ञान तामस कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि "जो व्यक्ति सीमित वस्तु में सम्पूर्णता देखता है, जो अंध विश्वास या हठ से किसी एक मत, कार्य या वस्तु में फँस जाता है, जो सच्चे तत्त्व यानी परमात्मा को नहीं समझता- उसका ज्ञान तामस है।" तामस ज्ञान व्यक्ति को अंधभक्ति, कट्टरता, जड़ता और अज्ञान में बाँध देता है। वह एक संकीर्ण दृष्टिकोण में उलझ जाता है, और दूसरों की बात या सत्य को स्वीकार नहीं कर पाता। उपरोक्त तीनों श्लोको का सार यह है कि- सात्त्विक ज्ञान सबमें एक को देखता है, राजस ज्ञान सबको अलग देखता है, तामस ज्ञान केवल एक छोटे हिस्से में ही अटका रहता है।

श्लोक-23

- **जो नियत यानी कर्तव्य कर्म आसक्ति, राग-द्वेष और फल की इच्छा से रहित होकर किया जाता है, वह कर्म सात्त्विक कहा गया है।**

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि जो कर्म बिना आसक्ति, बिना द्वेष और बिना फल की चाह से किया जाता है- वह कर्म साधना बन जाता है। ऐसा कर्म मन को शुद्ध करता है और आत्मा को ईश्वर की ओर ले जाता है। सात्त्विक कर्म वही है, जहाँ 'मैं' नहीं, केवल 'भगवान की इच्छा' है।

श्लोक-24

जो कर्म कामना यानी फल की इच्छा से या अहंकार के साथ किया जाता है और जो बहुत परिश्रम और बेचैनी से किया जाता है- वह कर्म राजस कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ कर्म के पीछे भाव होता है- "मुझे कुछ चाहिए, लोग मेरी प्रशंसा करें, मुझे लाभ मिले।" ऐसे कर्म का परिणाम होता है, कुछ समय का सुख, फिर असंतोष और थकान, क्योंकि जब तक फल नहीं मिलता, मन व्यग्र रहता है, और जब मिल जाता है, तो और बड़ा फल पाने की लालसा बढ़ जाती है, जहाँ फल की इच्छा है, वहाँ शांति नहीं। जहाँ समर्पण है, वहाँ मुक्ति है।

श्लोक-25

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा या अपनी शक्ति की परवाह किए बिना मोह यानी अज्ञान से आरंभ किया जाता है, वह कर्म तामस कहलाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि "तामस कर्म का मूल कारण है- मोह यानी अज्ञान।" ऐसे व्यक्ति का मन अंधकार में डूबा होता है। वह बिना विचार के कर्म करता है, कभी क्रोध से, कभी लोभ से, कभी हठ से। वह अपने कर्तव्य या धर्म को नहीं देखता, केवल मन की प्रवृत्ति में बह जाता है। यह

कर्म न तो आत्मा को शुद्ध करता है, न समाज का हित करता है, केवल दुःख और पछतावे का कारण बनता है।

श्लोक-26

जो कर्ता आसक्ति और अहंकार से रहित है, धैर्य और उत्साह से युक्त है और सफलता-असफलता में समभाव रखता है, वह कर्ता सात्त्विक कहा गया है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि "सात्त्विक कर्ता वह है जो कर्म तो करता है, परन्तु उसमें 'मैं करता हूँ' का अहंकार नहीं रखता, न ही परिणाम की चिन्ता करता है।" वह कर्त्तव्य भाव से, ईश्वर को अर्पण करते हुए कार्य करता है। उसका मन न सफलता में फूलता है, न असफलता में टूटता है। वह हमेशा स्थिर, शांत और प्रसन्न रहता है। सात्त्विक कर्ता की मुख्य विशेषता है कि "वह कर्म में लगा रहता है, पर कर्म से बँधता नहीं।" उसका मन मुक्त है- उसमें न फल की चिंता है, न नाम की चाह। वह भगवान की आज्ञा समझकर कर्म करता है।

श्लोक-27

जो कर्ता आसक्ति और फल की इच्छा से युक्त, लोभी, हिंसक स्वभाव वाला, अशुद्ध और सफलता में प्रसन्न तथा असफलता में दुःखी रहता है-वह कर्ता राजस कहलाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं- जो व्यक्ति कर्म करता है, परन्तु उसका उद्देश्य फल, लाभ और प्रसिद्धि होता है, वह राजस कर्ता है।" ऐसा कर्ता अपने कर्म से बँधता है, क्योंकि उसके पीछे अहंकार और स्वार्थ होता है। वह अपनी सफलता पर फूला नहीं समाता और असफलता पर टूट जाता है। राजस कर्ता का मन सदा अशांत रहता है, कभी लालच से भरा, कभी भय से, कभी दुःख से।

श्लोक-28

जो कर्ता (कार्य करने वाला) एकाग्रता से रहित, नीच प्रकृति का, घमंडी, दूसरों को धोखा देने वाला, दूसरों की जीविका छीनने वाला, शोक करने वाला, आलसी और काम को बहुत देर तक लटकाए रखने वाला (दीर्घसूत्री) होता है, उसे तामसी कर्ता कहा जाता है।

सरल व्याख्या- इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण ने उन गुणों को बताया है जो एक व्यक्ति को तामसी या अंधकार की श्रेणी में रखते हैं-

- **अयुक्त** - जिसका मन अपने वश में न हो और जो अनुशासनहीन हो।
- **प्राकृत** - जो अपनी तुच्छ और अशुद्ध प्रवृत्तियों के अनुसार ही चलता हो।
- **स्तब्ध** - जिसमें बहुत अहंकार हो और जो दूसरों के प्रति कठोर हो।
- **शठ** - जो छल-कपट करने वाला हो

- **नैष्कृतिक** - जो दूसरों को नुकसान पहुँचाने या दूसरों का काम बिगाड़ने की फिराक में रहता हो।
- **आलसी** - जो शारीरिक और मानसिक रूप से काम को टालता हो।
- **विषादी** - जो बिना कारण के दुःखी रहता हो और निराश बना रहता हो।
- **दीर्घसूत्री** - जो आज के काम को कल पर टालने की आदत रखता हो।

श्रीभगवान यहाँ हमें यह चेतावनी दे रहे हैं कि यदि हम ऐसे स्वभाव को अपनाते हैं, तो हम अपनी प्रगति को रोक लेते हैं। जीवन में सफलता और शांति के लिए इन तामसी गुणों से बचना चाहिए।

श्लोक-29

हे धनंजय! अब तू मुझसे बुद्धि और धृति (धैर्य) इन दोनों के गुणों के अनुसार तीन-तीन भेदों को पूर्ण रूप से अलग-अलग सुन।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि अब मैं तुझे यह समझाने जा रहा हूँ कि मनुष्य की बुद्धि (विवेक) और धृति (धैर्य) भी सत्त्व, रज और तम-इन तीन गुणों से प्रभावित होती है।" यह अत्यन्त गहरा ज्ञान है, क्योंकि मनुष्य के कर्म और उसका जीवन उसी की बुद्धि और धैर्य पर निर्भर करते हैं। यदि बुद्धि शुद्ध है तो कर्म भी शुद्ध होंगे। यदि उसका धैर्य स्थिर है तो जीवन भी संतुलित रहेगा। भगवान यहाँ यह स्पष्ट करने जा रहे हैं कि मनुष्य का चरित्र, कर्म और स्थिति-उसकी बुद्धि और धैर्य पर आधारित हैं।

श्लोक-30

हे पार्थ! जो बुद्धि यह जानती है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं, क्या धर्म है और क्या अधर्म, क्या भय है और क्या निडरता, क्या बंधन का कारण है और क्या मुक्ति का वह बुद्धि सात्त्विक कही जाती है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कहते हैं कि जो बुद्धि धर्म और अधर्म, बंधन और मुक्ति में अंतर जानती है। वह बुद्धि स्वार्थ नहीं, सत्य और ईश्वर के आधार पर निर्णय करती है। वह बुद्धि साधक को अंधकार से प्रकाश और बंधन से मुक्ति की ओर ले जाती है।

श्लोक-31

हे पार्थ! जो बुद्धि धर्म और अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को वास्तविक रूप में नहीं जानती, वह बुद्धि राजस कही जाती है।

सरल व्याख्या- राजस बुद्धि का मूल है- स्वार्थ और मोह। ऐसा व्यक्ति "धर्म" को केवल सुविधा के अनुसार मानता है। वह परिस्थितियों के अनुसार अपना धर्म बदल देता है- जहाँ लाभ दिखे, वहाँ धर्म जहाँ हानि दिखे, वहाँ अधर्म। इस बुद्धि में विवेक नहीं, बल्कि चालाकी और तर्क रहता है। यह भगवान की दृष्टि में दुर्बल और अशुद्ध बुद्धि है।

श्लोक-32

हे पार्थ! जो बुद्धि अंधकार यानी अज्ञान से ढकी हुई होकर अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म समझती है, और सभी बातों को विपरीत रूप में ग्रहण करती है, वह बुद्धि तामस कही जाती है।

श्लोक-33

हे पार्थ! जो धृति (धैर्य) योग के अविचल साधन से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को स्थिर रखती है, वह धृति सात्त्विक कही जाती है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि सात्त्विक धैर्य वही है जो भगवान के मार्ग में स्थिर रखे, चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो।" यह धैर्य आत्मा से जुड़ी होता है, वह न तो मोह से टूटती है, न भय से। वह साधक को नियम, संयम और समर्पण में स्थिर रखती है, जैसे दीपक हवा में भी टिमटिमाता है पर बुझता नहीं, वैसे ही सात्त्विक धैर्य वाला साधक दुनिया के झंझावातों में भी अडिग रहता है।

श्लोक-34

हे पार्थ! जो धृति (धैर्य) धर्म, अर्थ और काम के लिए फल की इच्छा से और आसक्ति के साथ प्रयत्न करने में लगाई जाती है, वह धृति राजस कही जाती है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान कह रहे हैं कि "राजस धृति वह है जो इच्छा के सहारे टिकी रहती है।" ऐसा व्यक्ति नियम तो रखता है, पर तब तक जब तक उसे उससे लाभ हो। उसे नाम, यश, सुख या प्रतिष्ठा चाहिए, इसलिए उसका प्रयास केवल अपेक्षित परिणाम तक सीमित होता है। ऐसा धैर्य मनुष्य को भीतर से शांति नहीं देता, बल्कि चिंता, प्रतिस्पर्धा और असंतोष बढ़ाता है। वह अपने धैर्य और परिश्रम पर गर्व करता है, परन्तु जब बात समर्पण या त्याग की आती है, वह पीछे हट जाता है।

श्लोक-35

हे पार्थ! जो धृति (धैर्य) अविवेकी व्यक्ति को निद्रा, भय, शोक, विषाद और अहंकार में बाँधे रखती है, वह धृति तामस कही जाती है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि "तामस धृति वह है जो मनुष्य को मोह, आलस्य और अज्ञान में टिकाए रखती है, जिससे व्यक्ति अपने भीतर के दुःख, भय या शोक से बाहर नहीं आ पाता।"

उपरोक्त 3 श्लोकों का सार है कि सात्त्विक धृति मन को ऊँचा उठाती है। राजस धृति मन को दौड़ाती है। तामस धृति मन को गिराती है।

श्लोक 36-37

हे भरतश्रेष्ठ! अब तू मुझसे तीन प्रकार के सुखों को भी सुन, जिस सुख में अभ्यास के द्वारा मन रमने लगता है और जो अंत में दुःख का अंत करने वाला है, वह सात्त्विक सुख कहा गया है, जो सुख आरंभ में विष के समान प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के समान हो जाता है और जो आत्मा की शुद्ध बुद्धि के प्रसन्न होने से उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्री भगवान कहते है कि सच्चा सुख अभ्यास से आता है, सत्संग, भक्ति, ध्यान, सत्य, संयम, इन सबका अभ्यास प्रारंभ में कठिन लगता है पर धीरे-धीरे वही मन का स्थायी सुख बन जाता है। यही सुख अंततः सारे दुःखों का अंत करता है।

श्लोक-38

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, जो आरंभ में अमृत के समान प्रतीत होता है परन्तु अन्त में विष के समान दुःख देता है, वह सुख राजस कहा गया है।

सरल व्याख्या- भोग से मिला सुख जल्दी समाप्त होता है पर उसकी लत रह जाती है। प्रशंसा का सुख कुछ क्षण का होता है परन्तु वह अहंकार बढ़ाता है। लोभ से मिला सुख बाद में भय और चिंता लाता है। इसलिए भगवान कहते हैं- "इन्द्रिय-सुख बाहर से अमृत जैसा लगता है, पर भीतर से विष समान होता है।"

श्लोक-39

जो सुख आरम्भ में और परिणाम में आत्मा को मोह में डालने वाला है, जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह सुख तामस कहा गया है।

सरल व्याख्या- "तामस सुख वह है जो आत्मा को सुन्न बना देता है।" यह सुख दिखने में शांति जैसा लगता है, पर वास्तव में यह जड़ता और पतन का कारण है। मनुष्य कहता है- "मुझे आराम चाहिए, मैं कुछ नहीं करना चाहता।" धीरे-धीरे उसका मन कर्म, धर्म, साधना और उत्साह से विमुख हो जाता है। उसकी चेतना सुस्त पड़ जाती है और वह जीवन की जिम्मेदारियों से भागने लगता है। यह सुख नहीं, आत्मा की निद्रा है।

श्लोक-40

न पृथ्वी में, न आकाश में और न ही देवताओं में ऐसा कोई प्राणी है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों सत्त्व, रज और तम से मुक्त हो।

श्लोक-41

हे अर्जुन! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- इन चारों वर्णों को उनके कर्म और उनके स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार विभाजित किया गया हैं।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि समाज में भेद जन्म से नहीं, बल्कि स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर होते हैं, जिसमें ज्ञान और शांति का गुण है वह ब्राह्मण है, जिसमें पराक्रम और नेतृत्व का गुण है वह क्षत्रिय, जिसमें व्यापार और उत्पादन का गुण है वह वैश्य है, जिसमें सेवा और सहयोग का गुण है वह शूद्र है। वर्ण का आधार "कार्य", "स्वभाव" और "गुण" है जन्म नहीं। हर मनुष्य अपने गुणों के अनुसार अपने कर्म करता है, यही भगवान बताते हैं।

श्लोक-42

मन का शांत रहना, इन्द्रियों का संयम, तप, शुद्धि, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और ईश्वर में दृढ़ श्रद्धा, ये सब ब्राह्मण के स्वभाव से उत्पन्न कर्म हैं।

श्लोक-43

वीरता, तेज, धैर्य, कुशलता, युद्ध से न भागना, दान देना और नेतृत्व-भाव, ये सब क्षत्रिय के स्वभाव से उत्पन्न कर्म हैं।

श्लोक-44

खेती, गौ-पालन और व्यापार- ये वैश्य के स्वभाव से उत्पन्न कर्म हैं और सेवा-प्रधान कार्य करना, यह शूद्र के स्वभाव से उत्पन्न कर्म है।

श्लोक-45

जो मनुष्य अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अपने कर्त्तव्य में लगे रहते हैं, वे सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

सरल व्याख्या- यहाँ श्री भगवान कहते है कि अब सुनो- वह अपने कर्म में निष्ठा रखकर कैसे सिद्धि प्राप्त करता है। स्वधर्म यानी अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करना, कोई स्वभाव से शांत है तो यह ब्राह्मण का गुण है, कोई साहसी है तो यह क्षत्रिय का गुण है, कोई व्यावहारिक है तो यह वैश्य का गुण है, कोई सेवा-प्रधान है तो यह शूद्र का गुण है, इनमें कोई ऊँचा-नीचा नहीं, हर एक समाज का आवश्यक अंग है, जिसमें जो स्वाभाविक योग्यता है, वही उसका धर्म है, और वही करते-करते वह सिद्ध हो जाता है।"

श्लोक-46

जिस परमेश्वर से सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है, उसे अपने स्वभाव के अनुसार किए हुए अपने कर्म से पूजकर मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि आपका स्वभाव जो कहे, वही आपका मार्ग है। किसी भी काम को भगवान को समर्पित करके करो। तब हर काम एक पूजा-कर्म बन जाएगा।

श्लोक- 47

दूसरों का धर्म (जो धारण किया गया है वही धर्म है, वही हमारा प्राकृतिक कर्म है), चाहे वह बहुत अच्छे से क्यों न किया जाए, उससे त्रुटिपूर्ण अपना धर्म करना श्रेष्ठ है। अपने स्वभाव के अनुसार नियत कर्म को करते रहने से मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि जो काम आपकी प्रकृति के अनुसार है, वही आपको शांति देगा। परधर्म असहज और तनावपूर्ण होता है, दूसरों का काम भले आकर्षक लगे, पर वह आपके स्वभाव का नहीं। उससे मन में संघर्ष पैदा होता है।

श्लोक-48

हे अर्जुन! अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म को, यदि वह दोषयुक्त भी हो, तब भी नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि इस संसार में सभी कर्म प्रारम्भ में किसी न किसी दोष से ढँके हुए होते हैं, जैसे अग्नि धुएँ से ढँकी रहती है।

सरल व्याख्या- यहाँ साधको के लिए सीख है कि जो मार्ग भगवान ने दिया है- उससे पीछे मत हटो। कठिनाई आना स्वाभाविक है- इससे निराश मत हो। अपने काम को साधना बनाओ, दोष मिटते जाएँगे। परधर्म से बचो, वह आकर्षक है, पर सुरक्षित नहीं, जिस कार्य को भगवान ने आपके स्वभाव में रखा है, वही आपका मार्ग है, वह आपको परम लक्ष्य तक ले जाएगा।

श्लोक-49

जिस मनुष्य की बुद्धि सर्वत्र आसक्ति से रहित हो, जिसने मन को जीत लिया हो, और जिसकी इच्छाएँ (स्पृहा) मिट गई हों, वह फल-त्याग (सन्यास) द्वारा कर्म-रहित अवस्था (नैष्कर्म्य सिद्धि) की परम स्थिति प्राप्त करता है।

सरल व्याख्या- श्रीभगवान कहते हैं कि कर्म करते-करते भी मन यदि कर्म से अलग हो जाए तो यही कर्म-रहित अवस्था है, और यही जीवन का परम लक्ष्य है।"

श्लोक-50

हे अर्जुन! जो मनुष्य कर्म-योग (सिद्धि) से पवित्रता प्राप्त करता है, वह किस प्रकार आगे चलकर परम शांति (ब्रह्म), परमात्म स्थिति को प्राप्त होता है, यह तू संक्षेप में मुझसे सुन,

श्लोक-51 से 53

क्योंकि यह ज्ञान की परम निष्ठा का विषय है। कर्म से मन शुद्ध करो, ज्ञान से मन स्थिर करो और भक्ति से शांति प्राप्त करो।" यह श्लोक उसी मार्ग का द्वार खोलता है। शुद्ध बुद्धि से युक्त होकर, धैर्य द्वारा मन को नियंत्रण में करके, शब्द आदि विषयों का त्याग करके और राग-द्वेष को छोड़कर, साधक ब्रह्ममार्ग में आगे बढ़ता है। जो व्यक्ति एकांत का सेवन करता है, अल्प मात्रा में भोजन करता है, वाणी, शरीर और मन को संयमित रखता है, ध्यान-योग में सदैव लगा रहता है और वैराग्य को ग्रहण किए रहता है, वह ब्रह्म-ज्ञान के योग्य हो जाता है। अहंकार, शक्ति-भ्रम, घमंड, कामना, क्रोध और संग्रह की वासना, इन सबको छोड़कर, 'मेरा'- भाव से रहित और शांत हो जाने पर मनुष्य ब्रह्म- भाव (परम स्थिति) को प्राप्त होने योग्य हो जाता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान बता रहे है कि विवेक से युक्त होकर धैर्य द्वारा मन को अपने वश में करके इन्द्रिय विषयों शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के प्रति आसक्ति का भाव त्यागना है ना कि विषयों को ही त्याग देना है।

श्लोक-54

जो मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, जिसका मन प्रसन्न हो जाता है, जो न किसी का शोक करता है और न किसी की इच्छा करता है, जो सब प्राणियों में समान दृष्टि रखता है, वह मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है।

श्लोक-55

भक्ति से मनुष्य मुझे तत्त्व रूप से- मैं जैसा हूँ और जो हूँ- वैसे ही जानता है और मुझे तत्त्व से जानकर वह मेरे ही स्वरूप में प्रवेश कर जाता है।

श्लोक-56

जो मनुष्य सब कर्म करता हुआ भी मेरे ही आश्रय को धारण करता है, वह मेरे कृपा प्रसाद से अविनाशी, शाश्वत पद को प्राप्त करता है।

सरल व्याख्या- यहाँ श्रीभगवान बता रहे है कि मोक्ष हमारी शक्ति से नहीं मिलता। मोक्ष भगवान की कृपा से मिलता है। कृपा तब मिलती है- जब मन निर्मल हो, हृदय समर्पित हो, अहंकार मिट जाए और कर्म निःस्वार्थ हो और जब भगवान को कर्ता माना जाए, तब भगवान कहते हैं- "मैं स्वयं कृपा करके साधक को शाश्वत पद देता हूँ।"

श्लोक-57

अपने चित्त द्वारा सभी कर्मों को मुझमें अर्पित करके, मुझे ही परम मानकर, बुद्धि से अपने चित्त को मेरे में लगाकर तू सदा कर्म कर।

श्लोक-58

यदि तुम अपना चित्त मुझमें लगाओगे तो मेरी कृपा से सभी कठिनाइयों को पार कर जाओगे, परंतु यदि अहंकार के कारण मेरी बात नहीं मानोगे- तो तुम नष्ट हो जाओगे।

श्लोक-59

यदि तू अहंकार का आश्रय लेकर यह सोचता है कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा," तो तेरा यह सोचना व्यर्थ है, क्योंकि तेरी अपनी प्रकृति तुझसे फिर भी युद्ध करवाएगी।

श्लोक-60

हे अर्जुन! तुम अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म में बँधे हुए हो। मोह के कारण तुम जिसे करना नहीं चाहते, उसे भी तुम अवश्य, अपने स्वाभाव के वश में होकर करने के लिए बाध्य हो जाओगे।

श्लोक-61

हे अर्जुन! परमेश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है और अपनी माया से यन्त्र पर चढ़े हुए प्राणियों को घुमाता रहता है।

सरल व्याख्या- यह श्लोक बताता है कि- जीव कुछ नहीं करता, शरीर एक मशीन है, परमेश्वर ही भीतर से सबको चला रहा है, जब साधक यह समझ लेता है, मैं शरीर नहीं, शरीर एक मशीन है, मन और बुद्धि यंत्र हैं, कर्ता मैं नहीं, कर्ता ईश्वर है, मैं केवल साक्षी हूँ तब अहंकार समाप्त होता है, जब अहंकार मिटता है तब बंधन मिटता है और मुक्ति आती है।

श्लोक-62

हे अर्जुन! उसी परमेश्वर की अपने सम्पूर्ण भाव से शरण में जा। उसकी कृपा से तू परम शांति और शाश्वत पद को प्राप्त करेगा।

सरल व्याख्या- साधक को केवल एक काम करना है-परमेश्वर की शरण। बाकी सब भगवान का काम है, वे शांति भी देंगे, परम पद भी देंगे।" "जहाँ 'शरण' है- वहाँ दुःख नहीं।" "जहाँ 'कृपा है- वहाँ भय नहीं।" "जहाँ 'समर्पण' है, वहाँ मुक्ति है।

श्लोक- 63

इस प्रकार मैंने तुझे अत्यन्त गुप्त से भी गुप्त यह ज्ञान पूरी तरह बता दिया है। अब तू इसे भली-भाँति विचार कर जैसा तेरी इच्छा हो वैसा कर।

श्लोक-64

अब तू सबसे गुप्त ज्ञान को फिर से मेरे अत्यन्त श्रेष्ठ वचन रूप ज्ञान को सुन। क्योंकि तू मुझको दृढ़ रूप से अत्यन्त प्रिय है, इसलिए मैं तेरा कल्याण करने वाली बात कहूँगा।

श्लोक-65

तू मेरा मनन करने वाला हो, मेरा भक्त बन, मुझे ही पूज और मुझे नमस्कार कर। ऐसा करने से तू निश्चय ही मेरे पास आएगा, मैं तुझसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।

सरल व्याख्या- "भक्ति का सार यह है, मन में भगवान, प्रेम में भगवान, कर्म में भगवान" "और इसके बदले भगवान जीव को अपने स्वरूप में मिला लेते हैं।"

श्लोक-66

सभी धर्मों को त्यागकर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सभी पापों और बंधनों से पूर्णतया मुक्त कर दूँगा। तू शोक न कर।

सरल व्याख्या- यह श्लोक शरणागति का महामंत्र है। शरणागति होते ही जीव के पाप, दोष, दुर्गुण- सब नष्ट हो जाते हैं। भगवान स्वयं साधक को मुक्त कर देते हैं"' "जिसने इस श्लोक को जीवन में उतार लिया- वह मुक्त है।"

श्लोक-67

यह परम ज्ञान कभी भी उन लोगों से नहीं कहना चाहिए, जो तप न करते हों, जो भक्त न हों, जो सुनने और सेवा करने की इच्छा न रखते हों और जो मुझमें दोष देखते हों। "भगवान ज्ञान देते हैं पर केवल उसी को, जिसका हृदय ग्रहण करने योग्य है।" "गीता जीवन बदल देती है, पर केवल उसके लिए जो विनम्र, भक्तिमान, और ग्रहणशील हो।"

श्लोक-68

जो मनुष्य इस परम गुह्य (रहस्यमय) ज्ञान को मेरे भक्तों को सुनाएगा और मुझमें परम भक्ति रखेगा-वह निश्चय ही मेरे पास आएगा। इसमें कोई संदेह नहीं।

श्लोक-69

मेरे लिए मनुष्यों में उससे बढ़कर प्रिय कार्य करने वाला कोई नहीं है जो गीता-ज्ञान का प्रचार करता है और न ही पृथ्वी पर भविष्य में उससे अधिक प्रिय कोई होगा।

श्लोक-70

जो मनुष्य इस धर्ममय गीता संवाद का पाठ करेगा, या दूसरों से करवाएगा, या इसका ज्ञान फैलाएगा, वह ज्ञान-यज्ञ करता है और उस ज्ञान-यज्ञ द्वारा मैं उसी से प्रसन्न हो जाता हूँ।

श्लोक-71

जो मनुष्य श्रद्धा के साथ और बिना निन्दा किए इस गीता को केवल सुन भी ले, वह भी मुक्त हो जाता है और पुण्यात्माओं के शुभ लोकों को प्राप्त करता है।

श्लोक-72

हे अर्जुन! क्या तुमने यह सब ज्ञान एकाग्र मन से सुना? और क्या तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हो गया?

श्लोक-73

अर्जुन ने कहा- हे अच्युत! मेरी मोह-भ्रम की अवस्था अब नष्ट हो गई है और आपकी कृपा से मेरी स्मृति और विवेक लौट आए हैं। मैं अब स्थिर हूँ, मेरे संदेह समाप्त हो गए हैं। मैं आपके वचन का पालन करूँगा।

सरल व्याख्या- यहाँ अर्जुन अपनी आत्मबोध को प्राप्त होकर कहते हैं कि आपके उपदेश से मुझे मेरे भूले हुए स्वरूप की याद आ गई। मेरा मोह-भ्रम पूर्णतया नष्ट हो चुका हैं और मेरी स्मृति आत्मबोध के प्रति जाग्रत हो चुकी हैं। अब मैं पूर्णतया स्थिर हो चुका हूँ और मेरे समस्त संदेह समाप्त हो चुके हैं और अब मैं आपके कहे हुए सभी वचनों का पालन करूगाँ क्योंकि अब मैं आपकी शरण में हूँ।

श्लोक-74

संजय ने कहा- मैंने भगवान वासुदेव और महात्मा अर्जुन के इस अद्‌भुत और रोमांच उत्पन्न करने वाले संवाद को सुना।

श्लोक-75

मैंने व्यास जी की कृपा से यह अत्यन्त गुप्त परम ज्ञान सुना, जिसे योगेश्वर श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुन से प्रत्यक्ष कह रहे थे।

श्लोक-76

हे राजन! भगवान केशव और अर्जुन के इस अद्‌भुत और पुण्यमय संवाद को बार-बार स्मरण करके मैं बार-बार आनंद से भर उठता हूँ।

श्लोक-77

हे राजन! भगवान हरि के उस अत्यन्त अद्‌भुत विराट रूप का बार-बार स्मरण करके मुझे महान आश्चर्य होता है और मैं पुनः-पुनः आनंदित हो उठता हूँ।

श्लोक-78

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है, वहाँ निश्चय ही समृद्धि, विजय, कल्याण और स्थिर नीति यानि धर्म रहता है। यह मेरा दृढ़ मत है।



॥ ॐ तत् सत् ॥



अनंत कृपानिधान निराकार परम पुरूष एवं प्रकृति
शिव लिंग प्रकट्य दिवस 4 जुलाई 2026 दिन शनिवार
स्थान अटल घाट, कान्हापुर (कानपुर), उत्तरप्रदेश भारत।

विनम्र निवेदन

कई लोग कहते हैं, तुम्हारे ग्रह ठीक नहीं हैं, नक्षत्र ठीक नहीं हैं, दशा ठीक नहीं है, इसलिए जीवन में कष्ट हैं। लेकिन महाभारत की एक घटना हमें कुछ और ही सिखाती है। जब श्री कृष्ण शांति का संदेश लेकर दुर्योधन के दरबार में गए, तब दुर्योधन ने उनका सम्मान नहीं किया, बल्कि उनका अपमान कर दिया। श्री कृष्ण ने समझ लिया कि अब युद्ध टालना संभव नहीं है। वे वहां से निकल आए और समय ने महाभारत के महान युद्ध का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

कहा जाता है कि धृतराष्ट्र ने अपने राज ज्योतिषियों को बुलाया और दुर्योधन की कुंडली दिखाकर एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछा। उन्होंने पूछा, बताइए इस युद्ध में विजय किसकी होगी? दुर्योधन की कुंडली क्या कहती है? ज्योतिषियों ने बड़े ध्यान से कुंडली देखी, ग्रहों की स्थिति देखी, नक्षत्रों का विचार किया, दशाओं का अध्ययन किया। सब कुछ देखकर उन्होंने कहा, दुर्योधन की कुंडली तो अत्यंत बलवान है। ग्रह उच्च स्थान में हैं और समय भी अनुकूल है। ज्योतिषियों ने विश्वास के साथ कहा, इस युद्ध में दुर्योधन की विजय के संकेत दिखाई दे रहे हैं।

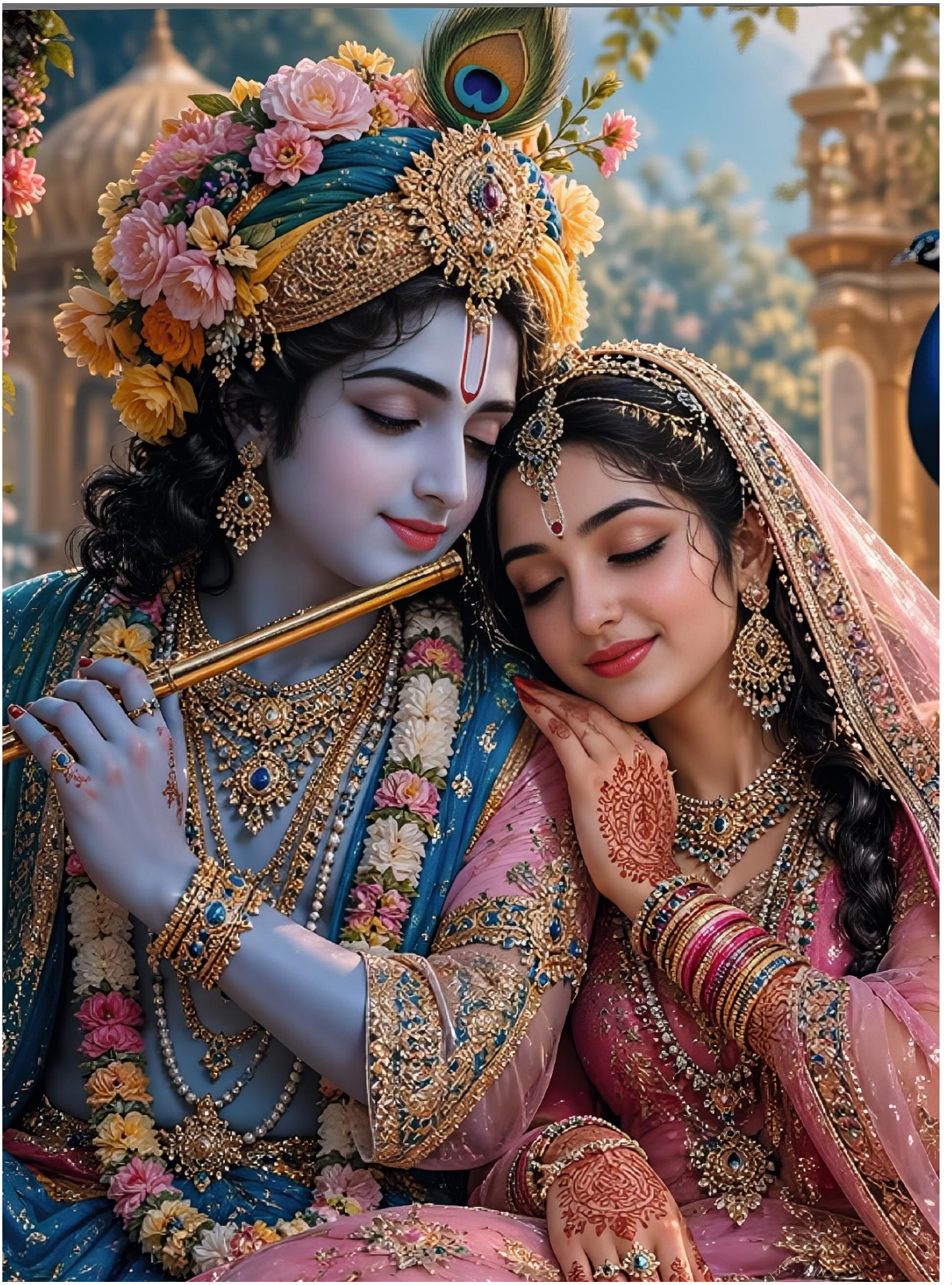
युद्ध आरंभ हुआ। दोनों ओर से भीषण संघर्ष होने लगा। रणभूमि में वीर योद्धा अपने पराक्रम का प्रदर्शन कर रहे थे। लेकिन कुछ ही दिनों बाद परिस्थितियां बदलने लगीं। कौरव पक्ष को अपेक्षित सफलता नहीं मिल रही थी। दुर्योधन और धृतराष्ट्र चिंतित हो गए। उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि सब कुछ अनुकूल होने के बाद भी हार की स्थिति क्यों बन रही है। उन्होंने फिर से उन्हीं ज्योतिषियों को बुलाया और पूछा, आपने तो विजय का संकेत बताया था, फिर ये सब क्या हो रहा है?

ज्योतिषियों ने दोबारा कुंडली का गहन अध्ययन किया। वे बार-बार ग्रहों की स्थिति का विचार करने लगे। यहाँ कोई अद्भुत शक्ति कार्य कर रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई ग्रहों की दिशा बदल रहा है, कोई भाग्य की धारा को मोड़ रहा है। ज्योतिषियों ने कहा, किसी दिव्य शक्ति का प्रभाव पांडवों के पक्ष में दिखाई दे रहा है। हमें लगता हैं कि वहाँ कोई दिव्य-शक्ति सम्पन्न कोई विभूति उपस्थित हैं। निश्चय ही वह विभूति श्रीकृष्ण ही हैं जो स्वयं पांडवों के साथ खड़े हैं।

जहां श्री कृष्ण होते हैं, वहां केवल गणना नहीं चलती, वहां ईश्वर की कृपा और धर्म की शक्ति भी साथ चलती है। पांडव धर्म के मार्ग पर थे। वे सत्य और न्याय के पक्ष में खड़े थे, इसलिए भगवान का आशीर्वाद उनके साथ था। यह कथा हमें बताती है कि केवल ग्रह और नक्षत्र ही सब कुछ तय नहीं करते। ईश्वर की कृपा सबसे बड़ी शक्ति है। यदि आपकी कुंडली में कठिन समय चल रहा हो, यदि परिस्थितियां आपके विरुद्ध दिखाई दे रही हों, तब भी निराश मत होइए।

यदि आपका मन धर्म के मार्ग पर है, यदि आपके कर्म सच्चे हैं, तो भगवान आपके लिए नए रास्ते बना सकते हैं। जो ईश्वर ग्रहों और नक्षत्रों के स्वामी हैं, उनके लिए भाग्य की दिशा बदलना असंभव नहीं है।

इसलिए सदैव धर्म, सत्य और भक्ति का साथ दीजिए। श्री कृष्ण पर विश्वास रखिए। जब भगवान साथ होते हैं, तो असंभव भी संभव हो जाता है। कठिनाई का रास्ता भी आसान हो जाता है।



॥ राधे-राधे, जय श्री कृष्ण॥

यदि इस ग्रन्थ ने आपके मन को छुआ हो, आपकी सोच को बदला हो, या आपके जीवन में सकारात्मक ऊर्जा का संचार किया हो, तो इस ग्रन्थ को यहीं तक सीमित मत रखिए, क्योंकि एक अच्छा विचार केवल एक व्यक्ति का नहीं, पूरे समाज का जीवन बदल सकता है। यह ग्रन्थ सनातन संस्कृति, भारतीय संस्कारों, आध्यात्मिक ज्ञान और नैतिक मूल्यों को जन-जन तक पहुँचाने का एक छोटा सा प्रयास है।

आपसे विन्रम निवेदन हैं कि भगवान श्रीकृष्ण के इस दिव्य संदेश को हजारों-लाखों लोगों तक पहुँचाने में सहयोग करें। यह आपके द्वारा किया जानें वाला बड़ा ही पुण्य कर्म होगा। यदि आप भी चाहते हैं कि आने वाली पीढ़ियां अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपने संस्कारों से जुड़ी रहें, तो श्रीभगवद्गीता अक्षय आनन्द अमृत के बनाये इस परिवार का हिस्सा बनिए और भगवद्गीता प्रचार-प्रसार अभियान को आगे बढ़ाइए। याद रखिए, धर्मो रक्षति रक्षितः अर्थात् जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। विश्वास और इसी संकल्प के साथ-

॥ जय श्री राम, जय श्री कृष्ण, जय हिंद, जय भारत, जय सनातन धर्म॥"

श्री भगवद्गीता आरती

ॐ जय भगवद् गीते, जय भगवद् गीते। हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते॥

कर्म-सुयोग-संजोगिनी, आत्म-ज्ञान-दात्री। ब्रह्म-ज्ञान-सुधा-वर्षा, मोह-मुद-रात्रि॥ (ॐ जय भगवद् गीते...)

त्रिविध-ताप-निवारिणि, भव-भय-हारिणि। मोह-तिमिर-विनाशिनि, विद्या-विस्तारिणि॥ (ॐ जय भगवद् गीते...)

यज्ञ-दान-तप-सुफलक, श्रुति-सार-विभूते। परम-शान्ति-विधायिनि, मोक्ष-सुख-हेते॥ (ॐ जय भगवद् गीते...)

संसृति-सागर-सेतु, भक्तन-हितकारी। शरण-गत-जन-पालिनि, भव-जल-दुःख-हारी॥ (ॐ जय भगवद् गीते...)

गीतकार-हरि-स्वयं, अर्जुन-हित-गायी। कुरुक्षेत्र-रण-अंगण, पार्थ-भ्रम-नाशी॥ (ॐ जय भगवद् गीते...)

जो नर श्रद्धा-युत, नित्य पाठ करते। तनु-त्याग-अवसान, हरि-पद-वे तरते॥ (ॐ जय भगवद् गीते...)

॥ इति श्री भगवद्गीता आरती सम्पूर्ण ॥

